'वेद-परिचय' परीक्षा के नियम।

१ 'वेदपरिचय' परीक्षाके पाठ्य-पुस्तकों में ३०० वेदमन्त्र आ चुके हैं। इन ३०० मन्त्रों का विवरणसहित अर्थ ३ विभागों में [वेदपरिचय प्रथम, द्वितीय, तृतीय विभाग नाम से] मुद्रित हुआ है। इन्हीं पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन की परीक्षा ली जायगी। इन तीनों विभागों का मूल्य ३॥) है और डा० व्य० ॥) है।

२ [१] परीक्षापत्र भेजना, [२] उत्तरपत्र की परीक्षा करना, तथा [३] परीक्षा का परिणाम सूचित करना आदि व्ययके लिये १॥) परीक्षार्थी अपने 'प्रार्थना-पत्र' के साथ भेज दें।

३ जो उत्तीर्ण होंगे, वे "प्रशस्तिपत्र" पा सकते हैं।

४ परीक्षार्थी अपने स्थानपर ही अध्ययन करके परीक्षा के लिये बैठ सकते हैं। किसी उत्तरदायी सज्जनकी निगरानी में उत्तरपत्र लिख कर भेज सकते हैं। पाठशाला के मुख्य शिक्षक, धार्मिक-संस्था के अध्यक्ष अथवा अन्य सज्जन के निरीक्षण में परीक्षापत्र के उत्तर लिखे जा सकते हैं।

५ प्रश्नपत्र के पूर्णांक १०० होंगे। जिनमें से ४० अंक पानेसे तृतीय श्रेणी, ६० पानेसे द्वितीय श्रेणी और इनसे अधिक अंक मिलनेसे प्रथम श्रेणी मिलेगी।

६ जो पाठक इस परीक्षा के लिये बैठना चाहेंगे, वे निम्नलिखित प्रकार 'प्रार्थनापत्र' श्री० मन्त्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध [जि० सातारा] के पास भेज सकते हैं।

प्रार्थना-पत्र का नमूना।

श्री० मन्त्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध [जि० सातारा]

नमस्ते। निवेदन है कि, मैं 'वेद-परिचय' की परीक्षा देना चाहता हूं। मेरा वेद-परिचयके तीनों विभागों का अध्ययन हुआ है। इस पत्र के साथ आज की डाक से १॥) भेजा है। कृपया प्रश्नपत्र भेज दीजिये।

परीक्षा के निरीक्षण का कार्य श्री० म० ... ... ने स्वीकार किया है।

भवदीय

नाम ... ...

पता ... ...

ग्राम तथा पोष्ट ... ...

जिला ... ...

निरीक्षण के कार्य के लिये नियुक्त हुए सज्जन की सम्मति।

श्री० मन्त्री, स्वाध्याय-मण्डल,
औंध [जि० सातारा]

नमस्ते। "वेद-परिचय" परीक्षा का निरीक्षण करना मैंने स्वीकार किया है। परीक्षाका निरीक्षण मैं आप के नियमानुसार करूंगा और परीक्षा समाप्त होते ही उत्तरपत्र गुप्तता के साथ रजिस्ट्री डाक से भेज दूंगा।

भवदीय

नाम ... ...

पता ... ...

पोष्ट ... ...

जिला ... ...

वेदमें प्रतिपादित ईश्वर ।

और अन्य संप्रदायों में स्वीकृत ईश्वर ।

[६] +

इस समयतक हमने [१] सब लोग क्या चाहते हैं ? [२] नास्तिकों का दुःखवाद और क्षणभंगुरवाद, [३] ईसाई और मोहमदीयोंका सुदूर स्थान में रहनेवाला ईश्वर, [४] शैववैष्णवादिकों का सुदूर स्थान में रहनेवाला, परन्तु अवतार लेनेवाला ईश्वर, [५] सब भूतों में रहनेवाला और सब भूत जिसमें रहते हैं, ऐसा सर्वव्यापक ईश्वर, देख लिया ! अर्थात् इतने लेख इस विषयपर लिखे गये और इन सब में [१] संसार की दुःखमयता और क्षणभंगुरता, [२] विश्व बंधनकारक होनेसे त्याज्य है, [३] जन्ममृत्यु से अपना बचाव करना चाहिये, जन्ममरण से मुक्त होना ही मुक्ति पाना है, [४] विश्व का त्याग करना और अदृश्य अचिंत्य का चिन्तन करने का ख्याल, इत्यादि बातों की समानताही देखी । उक्त सब मत माननेवालोंमें एकसे दूसरे में ईश्वर समीप आने लगा, इसमें संदेह नहीं है, पर सभी मतवालों के लिये वह दूर और अप्राप्य ही रहा है !!

इसलिये हम अब वेद में जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया है, उस ईश्वरका स्वरूप देखना चाहते हैं । यही कार्य इस लेख में तथा इसके आगे आनेवाले अनेक लेखोंद्वारा करना है ।

पाठक इन लेखों का विचार मननपूर्वक करें और देखें कि वेदद्वारा प्रतिपादित ईश्वर में और अन्यान्य मतों के ईश्वर में फर्क क्या है । यह भिन्नता बडी भारी है और इस भिन्नता से समाजव्यवस्था और राष्ट्रशासन व्यवस्था भी विभिन्न हो गयी है । अतः विशेष प्रस्ताव न करते हुए, हम वेदप्रतिपादित ईश्वर विषयक मुख्य सिद्धान्त ही सब से प्रथम यहां बता देते हैं—

ईश्वर विश्वरूप है ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥ [ऋ० १०।९०।२]

' पुरुष अर्थात् ईश्वर ही [इदं सर्वं] यह सब विश्व है, जो भूतकाल में हो चुका था, तथा जो भविष्यकालमें होनेवाला है, एवं जो वर्तमानकाल में विद्यमान है । ' अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य कालों में जो विश्व अथवा जो संसार है, वह सब ईश्वर का रूप है । यह वेदका कहना है, यह वेदका संदेश है, जो वैदिकधर्मियों को शिरसावंद्य मान कर प्रमाण मानना योग्य है । इसी तरह और भी देखिये–

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । [ऋ० ६।४७।१८]

' इन्द्र अपनी अनेक शक्तियों से अनेक रूप बना है । ' इसी लिये पूर्वोक्त मन्त्र में ' वह सब कुछ हुआ है ' ऐसा कहा है । इसी तरह यजुर्वेद में भी देखिये–

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ॥ [वा० यजु० ४०।७; ईश० ७]

' [विजानतः] विज्ञानी पुरुषके लिये [आत्मा एव] आत्मा ही [सर्वाणि भूतानि] सब भूत [अभूत्] हुए हैं । ' अथवा ' सब भूत आत्मा ही बने हैं । ' अर्थात् सब भूत आत्माके ही रूप हैं, ऐसा जो जानता है, वही सच्चा विज्ञानी है । वेदका यह सिद्धान्त है । इसी तरह ' विष्णुसहस्रनाम ' के प्रारंभ में ही कहा है–

विश्वं विष्णुः (विष्णुसहस्रनामप्रारंभ)

' यह जो विश्व है, वही विष्णु है । ' अर्थात् जो भगवान् विष्णु है, उसी का रूप यह विश्व है । विष्णुसे विश्व भिन्न नहीं है । विश्व ही विष्णु का रूप है । भगवद्गीतामें भी ऐसा ही कहा है–

+ इस लेखमाला का ५ वां लेख वैदिकधर्म क्रमांक २७७ में पृष्ठ १ (१२९) पर ' ईश्वर सर्व भूतों में ' नाम से छपा है ।

वासुदेवः सर्वं । [भ० गी० ७।१९]

' यह सब कुछ [जो भी इस संसार में है वह] वासुदेव का रूप है । ' वासुदेव ही यह सब संसार है । वासुदेव से भिन्न यह ससार नहीं है । तथा--

सर्वं खलु इदं ब्रह्म । [छां० उ० ३।१४।१]

' सचमुच यह सब ब्रह्म है । ' अर्थात् ब्रह्म से भिन्न इस विश्व में, इस संसार में कुछ भी अन्य वस्तु नहीं है। जो यह विश्व है, वह ब्रह्मका ही रूप है ।

विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ । [ऋ० ३।३८।४; यजु० ३३।२२; अथर्व० ४।८।३]

' वह विश्वरूपी इन्द्र अमर देवों के रूपमें ठहरा है । ' अर्थात् यह इन्द्र विश्वरूप बना है और सब देवों के रूपों में दीख रहा है । तथा–

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः ।
[ऋ० ३।५५।१९]

' सब का उत्पन्न करनेवाला देव विश्वरूपी है और वह प्रजाओं का पोषण करता है । '

इह त्वष्टारं अग्रियं विश्वरूपं उपह्वये ।
[ऋ० १।१३।१०]

' मुख्य विश्वरूप त्वष्टा देव की मैं प्रार्थना करता हूं । ' इस तरह ईश्वर का वर्णन वेद करता है और ईश्वर को ' विश्वरूप ' बताता है।

विश्वरूप का आशय ।

' विश्वरूप ' का आशय ' सर्वरूप ' है [All forms] सब रूप जो इस संसार में हैं, वे सबके सब रूप उसी ईश्वर के ही रूप हैं । ऐसा इन सब वचनों का आशय है ।

यहां आजके विवरण के लिये इतने वचन पर्याप्त हैं। सब पाठक इन वचनों का मनन करें और देखें कि इन से वेदका कौनसा आशय प्रकट होता है । इस विषय के प्रतिपादन के लिये हम अगले लेखोंमें वेदके अधिक वचन बतावेंगे । यह कार्य आगे अनेक लेखों द्वारा होनेवाला है, अतः स्थाली-पुलाकन्याय से यहां इतने वचन पर्याप्त हैं ।

भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में ' विश्वरूपदर्शन ' का वर्णन है । इस विश्वका जो रूप है, वह सब परमात्मा का ही रूप है, यही उस संपूर्ण अध्याय का तात्पर्य है ।

' विश्वरूपदर्शन का अर्थ इस संसार में, इस विश्वमें जो रूप है, वे सब परमेश्वर के ही रूप हैं, इन ईश्वरके रूपोंका दर्शन इस ग्यारहवे अध्यायमें भगवद्गीतामें कराया है और बताया है कि, ईश्वरका रूप ही यह विश्व है, यह संसार ही परमेश्वर का रूप है । भगवद्गीता के इस अध्याय में परमेश्वर को ' सर्व तथा विश्वरूप ' कहा है, इसका तात्पर्य यही है ।

पाठक इन सब वचनों का आशय जानें और वैदिकधर्मीयों का ईश्वर सब विश्वके संपूर्ण रूपोंमें हमारे सन्मुख उपस्थित है, यह जानें; तथा हम उसी के अन्दर हैं, यह भी ध्यान में रखें ।

पाठक इतनी शीघ्रता के साथ ' विश्वरूपी ईश्वर ' का स्वीकार नहीं करेंगे, यह हमें पता है । पर हम यहां पाठकों से प्रार्थनापूर्वक इतना ही कहेंगे कि, उक्त वचनोंके अनुसार ' विश्वरूपी ईश्वर ' है, यही बात सत्य सिद्ध हो सकती है । इस विषय के अधिक प्रमाण हम आगेके अनेक लेखोंमें देंगे, तब तक ' विश्वरूप ईश्वर वेद में कहा है ' इस का स्वीकार पाठक करें और देखें कि, इससे क्या बनता है ।

ईश्वर के ही सब रूप हैं ।

यदि सब संसार ईश्वर का रूप बना, तो संसार की प्रत्येक वस्तु ईश्वर का रूप बन गयी है, इस में सन्देह नहीं हो सकता । जो आपके चारों ओर हैं, वह सब ईश्वर का ही रूप है । पूर्वोक्त वचनोंमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है । ' पुरुष ही यह सब कुछ है ' (पुरुषः एव इदं सर्वं) यह वेदका कहना है । वेदका वचन ही वैदिकों का धर्म है । इसलिये पाठक इसको अपने धर्मका आदेश जानकर उस का स्वीकार करें और इस आदेशानुसार चलनेका प्रयत्न करें । जो कोई वेदके आदेशको अपना धर्म मानना चाहते हैं, वे इस वचन को अपना धर्म मानें, और इस धर्म का पालन करना प्रारंभ कर दें ।

इस वचन का जो अर्थ ऊपर दिया है वह वैसा ही स्वीकार करने से इस विश्व में जो जो वस्तुमात्र है, वह सब ईश्वरका रूप सिद्ध होगा और वैदिकधर्मियोंको वैसा ही मानना होगा ।

इस विश्वमें यह प्रकाशमय तेजस्वी आकाश है, इस

आकाशमें अनेक नक्षत्र हैं, सूर्य, चन्द्र तथा विविध तारागण हैं। विद्युत् है, अग्नि, वायु आदि हैं। अन्तरिक्षमें मेघ हैं, वहां से वृष्टि होती है, जिस से भूमिपर जल प्राप्त होता है। इस से ओषधिवनस्पतियां उत्पन्न होती हैं, नाना प्रकार के वृक्षादि फूलते फलते हैं। अनेक प्राणियोंको खानेयोग्य अन्न इस से मिलता है।

इस भूमिपर नाना प्रकार के प्राणी हैं, गौ, बैल आदि उपयोगी पशु हैं, व्याघ्रसिंह आदि हिंस्र प्राणी हैं, कृमि-कीट अनेकानेक हैं। मानव तो भूमिपर के सब देशों में रहते हैं। यह सब हमारे उपास्य देव परमेश्वर का रूप है। क्या यह पाठक मानने को तैयार हैं ? यदि नहीं तो अगला मन्त्र देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
[ऋ. १०।९०।१२]

' [अस्य] इस ईश्वर का मुख ब्राह्मण है, इस ईश्वर के बाहु क्षत्रिय हैं, इस ईश्वर की जघाएं वैश्य हैं और इस पुरुष के पांव शूद्र हैं। ' यह मन्त्र कहता है कि, सब मानव चार ईश्वराङ्गों में विभक्त हैं। ज्ञानी, शूर, किसान और कारीगर इन चार विभागों में मानवजाति विभक्त हुई है और ये चार विभाग ईश्वर के शरीर के चार अवयव हैं। अन्यान्य सब कार्य व्यवहारके लोग ईश्वर के अन्यान्य गात्रों, अवयवों और इंद्रियों में समझना योग्य है। इस मन्त्र को देखने से तो अब कोई सन्देह नहीं रहता कि, हमारा उपास्य प्रभु चार वर्णों के रूप में हमारे सामने उपस्थित है, और हम सब किसी न किसी वर्णमें संमिलित होने से निःसन्देह हम भी ईश्वर के देह के अन्दर विद्यमान हैं। सब मानवसमाज ही **' जनार्दन '** का रूप है। इसी को **' नारायण '** कहते हैं। नरों के रूप में रहनेवाले को ही नारायण [नर-अयन] कहा जाता है और जनों का चेतना देनेवाला जनार्दन है।

इसी तरह पशुपक्षियों के रूपों में भी ईश्वर है और निम्नलिखित मन्त्र भी यहां देखिये—

तदेवाग्निः, तदादित्यः, तद्वायुः, तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, ता आपः, स प्रजापतिः॥
[वा. यजु. ३२।१]

' अग्नि वह [ब्रह्म] है, आदित्य वह [ब्रह्म] है, वायु वह [ब्रह्म] है, चन्द्रमा भी वही [ब्रह्म] है। शुक्र भी [ब्रह्म] है। ब्रह्म, जल और प्रजापति ये सब वही [ब्रह्म] हैं। ' अर्थात् आप, तेज, वायु, चन्द्रमा, सूर्य, शुक्र, प्रजापति [प्रजापालक राजा] ये सब ब्रह्म के रूप बताये हैं। इस तरह वेदमन्त्रों को देखने से सब संसार ही ईश्वर का रूप वेद के सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध होता है। इस की अधिक सिद्धता न करते हुए, हम यहां यही सिद्धांत मानते हैं और देखते हैं कि, इस सिद्धांत को मानने से हमारा धर्म कैसा सिद्ध होता है और पूर्वउल्लिखित मतों से इस में विलक्षणता क्या होती है।

इस समय तकके प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि, जो स्थिरचर वस्तुमात्र इस संसार में है, वह सब परमेश्वर का रूप है। अपने विचार की सुविधा के लिये पाठक ऐसा मानें कि, ईश्वर ही संसार की सब वस्तुओं के रूपों को धारण करके हमारे पास खडा है और हमारा रूप भी उन के रूपों में संमिलित है।

विशेष विचार करने के लिये आप ऐसी कल्पना कीजिये कि, किसीएक उद्यान में आप अपने सौ पचास इष्टमित्रों के साथ बैठे हैं और धर्माधर्म का निर्णय कर रहे हैं। उक्त वैदिक विचारसरणी से ये सब आपके इष्टमित्र ईश्वरके रूप बने, उद्यानके छोटेमोटे वृक्ष ईश्वरके रूप बने, उनके गाडी को जोते घोडे, उनके भैंस, उनके कुत्ते, बिल्लियां, नौकर चाकर सब ईश्वरके रूप बने, पांवके नीचेकी भूमि, पीनेके लिये लाया पानी, श्वासोच्छ्वासके लिये ली जानेवाली हवा ये सब ईश्वर के रूप बने, इतना ही नहीं परन्तु बीच का **आकाश** भी ईश्वर का रूप हुआ। इससे पाठकोंको पता लगा होगा कि ईश्वर खीचाखींच भरा है और महासागर में जलबिंदु के समान हम उस ईश्वर में उसके अंश हैं।

यदि उक्त वर्णनसे ठीक वैदिक ईश्वर की कल्पना पाठकों के मनमें उतरी होगी, तो ईश्वर सर्वत्र खींचाखींच कैसा भरा है, यह भी पाठक जान सकते हैं। बीचमें कोई अव-काश रिक्त नहीं है कि, जहां ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है दो वस्तुओंके बीच वायु और आकाश रहते हैं, पर ये वायु और आकाश ईश्वर के ही रूप हैं।

पाठक जिस भूमिपर हैं, पाठक जो अन्न खाते हैं, जो

पानी पीते हैं, जो श्वास से वायु लेते हैं, जिस अवकाश में घूमते हैं, जिन मानवों या पशुपक्षियों अथवा स्थावर-जंगमों से व्यवहार करते हैं, वे मानव, वे पशुपक्षी, वे स्थावर-जंगम पदार्थ ईश्वर के रूप हैं। अर्थात् आपका सब पाठकों का सब व्यवहार, ईश्वर के साथ ही हो रहा है। यदि वेदका सिद्धान्त पाठक मानने को तैयार हैं, तो उन को यह बात यहां स्वीकार करनी चाहिये और इस से जो फल निकलेगा, वह मानने को तैयार होना चाहिये।

वैदिक धर्म के इस ईश्वर को मानने से ईश्वर प्रत्यक्ष ही दीखने लगता है, वह साक्षात् सर्वत्र उपस्थित दीखता है, सर्वत्र विद्यमान है, खींचाखींच सर्वत्र ओतप्रोत भरा है, घटघट में है, दूर और समीप है, अन्दर और बाहर है, यह सब वर्णन प्रत्यक्ष और स्पष्ट दिखाई देता है। किसी तरह इस वर्णन में सन्देह नहीं रहता।

आंशिक सत्य।

ईसाई और मोहमदीय मतवाले ईश्वर को तीसरे आसमानमें मानते हैं। वैदिकधर्मी ईश्वरको तीसरे आसमानमें तो मानते ही हैं, पर उसको पृथ्वी से लेकर द्युलोकपर्यन्त सर्वत्र सब रूपों में विद्यमान मानते हैं। शैव, वैष्णव, गाणपत्य, आदि मतवाले उस को अपने निश्चित किये लोक में स्थित मानते हैं, पर वैदिक धर्मवाले उसे वहां तो मानते ही हैं, परन्तु अन्य सब स्थानों में भी स्थिरचर रूप धारण किया मानते हैं। ये शैववैष्णवादि लोग उस का अवतार विशिष्ट कठिन प्रसंग में होता है, ऐसा मानते हैं, पर वैदिकधर्मी ऐसा मानते हैं कि, जो जन्मता है, वह ईश्वर का ही अवतार है। देखिये—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः [वा०यजु० ३२।४]

'यह ईश्वर सब दिशा-उपदिशाओं में है। यह पहिले जन्मा था और वही अब गर्भमें आ गया है। [जातः सः] जन्म लिया भी वही है, [जनिष्यमाणः सः] भविष्यमें जन्म लेनेवाला भी वही है। प्रत्येक प्राणी के रूप में यही है और इस के मुख सब ओर हैं।' सब प्राणियों के मुख इसी के होने के कारण सब मुख इसीके हैं। इस तरह जो जन्मा था, जो जन्म लेता है और जो जन्म लेगा, वह सब मिलकर वैदिकधर्मियों का ईश्वर है। शैववैष्णवादि किसी खास विभूतिको ही ईश्वर मानते हैं, तो वैदिकधर्मी सभी जन्मे प्राणियों को और जन्म लेनेवाले प्राणियों को ईश्वर का अवतार मानते हैं। वैदिकधर्मके अनुसार सभी अवतार हैं, अर्थात् सर्वकाल ईश्वर अवतार लेता है।

सब भूतों में ईश्वर और ईश्वर में सब भूत माननेवाले भी विशेष काल में ईश्वरका अवतार होता है, ऐसा मानते हैं पर वैदिकधर्मी पूर्वोक्त प्रकार सर्वदा ईश्वरावतार मानते हैं और सब को ईश्वररूप मानते हैं। वैदिकधर्मी की दृष्टि से सर्वत्र समदृष्टि रखना, अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना, सहज बात है, क्योंकि उसको यह प्रत्यक्ष है।

इस से पाठक जान सकते हैं कि, ये सब अन्य संप्रदाय-वाले लोग आंशिक सत्य मानते हैं, **अकेले वैदिकधर्मी ही पूर्ण सत्य का स्वीकार करनेवाले हैं।** अन्य सब संप्रदायवालोंके मतमें ईश्वरका दर्शन नहीं होता, पर वैदिक धर्मी ही मानते हैं कि, ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

संसार आनन्दपूर्ण है।

सब अन्य संप्रदायों के मन्तव्य में यह संसार दुःख-कारक, हीन, त्याज्य और बंधनकारक है, केवल अकेला वैदिकधर्मी ही इस को आनन्दमय मानता है, क्योंकि वैदिकधर्म का ईश्वर विश्वरूप है और विश्व ईश्वररूप होने से वह कदापि दुःखकारक अतएव त्याज्य नहीं हो सकता। सब अन्य संप्रदायों में और वैदिक मंतव्य में इतना अन्तर है। सब अन्य मतवाले डरके मारे संसारसे भागना चाहते हैं, अकेला वैदिकधर्मी ही संसार को मंगलमय अनुभव कर सकता है और संसार भरमें सर्वत्र मंगलमूर्ति का दर्शन कर सकता है।

सब अन्य संप्रदायवाले जन्म से घबराते और जन्ममरण को बंधन मानते और उस कारण जन्ममरण से छुटकारा पाने के इच्छुक हैं, केवल वैदिकधर्मी की दृष्टि में जन्म से ईश्वर के विश्वरूप में अपनी सत्ता होने के कारण वैदिक-धर्मी जन्मका स्वागत करता है, जन्म लेकर ईश्वरके विश्व-रूप में संमिलित होकर विश्वव्यापक प्रभु के विश्वव्यापक आयोजन में अपने आपको समर्पण करनेकेद्वारा कृतकृत्यता पाने का भागी वैदिकधर्मी ही हो सकता है।

अन्य सब संप्रदाय शरीरको बंधनरूप, पिंजरा मानते हैं, संसारको बडा भारी जेलखाना समझते हैं और गृहस्थाश्रम को तिरस्कार के योग्य समझते हैं। पर वैदिकधर्मी ही अपने शरीर को ३३ देवताओं का मन्दिर मानता है, सप्त ऋषियों का आश्रम मानता है, और यह देवमन्दिर अथवा ऋषि आश्रम विश्वरूपी ईश्वरके इस रमणीय और आनन्द-पूर्ण उद्यान में विराजता है, ऐसा अनुभव करता है!!! वैदिकधर्मी के लिये संसार का भय नहीं, शरीर की उपेक्षा नहीं, गृहस्थाश्रम का त्याग करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब मतों के द्वारा उपेक्षित इस संसार को वैदिक धर्म स्वर्गधाम बनाता है, और संसार को आनन्दमय अनुभव करने का सामर्थ्य अकेले वैदिकधर्मी में ही है!!!

सब अन्य संप्रदाय जन्मपरंपरा का विच्छेद करना चाहते हैं, अर्थात् उनके मतसे जन्म न होनेकी संभावना ही मुक्ति है, पर वैदिकधर्मी अखण्ड संतानपरंपरा अर्थात् पुत्रपौत्र-परंपराका विच्छेद न होना ही मुक्ति अथवा अमरत्व मानता है। प्रजातंतु का सातत्य रखने के लिये इसी कारण वैदिक-धर्मी यत्न करता है।

सब अन्य मतवाले जीव के शरीरान्तरप्राप्ति को ही पुनर्जन्म मानते हैं [केवल ईसाई और मोहमदीय तथा जो दूसरे एक जन्मवादी हैं, वे पुनर्जन्म नहीं मानते,] पर वैदिकधर्मी अपने संतान में ही अपना पुनर्जन्म होता है, ऐसा मानता है और प्रजातन्तुको अविच्छिन्न तथा उत्तरोत्तर ईश्वरीय गुणोंके विकसित स्वरूपमें मण्डित होनेका अनुभव करना चाहता है। वैदिकधर्मी की दृष्टिमें जन्म लेना ईश्वर के विश्वरूप में स्थान प्राप्त करना है, इसलिये जन्म से घबराने का यहां कोई कारण नहीं है।

विश्वसेवा का धर्म।

सब अन्य संप्रदायवाले संसार का त्याग करने के यत्न में लगे रहते हैं, इनका यह प्रयत्न वैदिकधर्मी की दृष्टि से हास्यास्पद है, क्योंकि सब विश्व ही, सभी संसार ईश्वर का स्वरूप है, इसलिये वह कदापि त्याज्य नहीं हो सकता, विश्व तो वैदिक धर्म की दृष्टि से संसेव्य है। **विश्वसेवा ही वेद का धर्म है, विश्वसेवा ही परमेश्वरसेवा है और वही मानव की कृतकृत्यता करनेवाली है।** वैदिक धर्म ही सच्चा सनातन धर्म है, वहां सनातन धर्म का अर्थ [सना सन् संभक्तौ] सेवा- अर्थात् विश्वरूपी परमेश्वर की सेवा का [तन] फैलाव करनेवाला वह धर्म है। विश्वरूपी ईश्वर की सेवा करनेके भाव का विस्तार यही धर्म कर सकता है। अन्य संप्रदाय तो विश्वसे भागने के यत्न में रहते हैं।

मानवों की सेवा।

सब मानवसमाज, सब मानवजाति वैदिकधर्मी के मत से **नारायण** [नर-अयन] का रूप है, **जनार्दन** [जन-अर्दन] का स्वरूप है। प्रत्यक्ष नारायण अथवा जनार्दन नरों का समष्टिरूप ही है। इस की सेवा करना ही सनातन धर्म है और यही वैदिक धर्म है। सब अन्य मतवाले, सब अन्य संप्रदायवाले जनताजनार्दन का विचार तक नहीं करते, वे अपने पुनर्जन्म के विच्छेद करने में लगे रहते हैं, जो वैदिकधर्मी की दृष्टिसे एक क्षुद्र बात है। वैदिकधर्मी जन्म को कृतार्थता का साधन तथा नारायण की सेवा का साधन मानता है, अतः जन्मविच्छेद करने का इच्छुक कभी वैदिकधर्मी नहीं हो सकता। विश्व-सेवा की वृद्धि करना और सर्वत्र विद्यमान आनन्दका प्रकटीकरण करना ही वैदिकधर्मीका अनुष्ठान है। इसलिये विश्व में वैदिकधर्मी के लिये अनंत कर्तव्य हैं और वे कर्तव्य वह निष्काम भाव से करता रहता है।

अन्य संप्रदायोंमें कही ' चार मुक्तियां ' तथा ' ईश्वरकी प्राप्ति ' वैदिकधर्मी की दृष्टिसे कुछ भी विशेष मूल्य नहीं रखती है। **वह तो वैदिकधर्मी की स्वाभाविक सहज प्राप्त स्थिति है।** वैदिकधर्मी तो सलोकता, समीपता, सरूपता और सायुज्यता का अनुभव सदा सर्वदा करता है। ये अनुभव तो उसको स्वभाव से प्राप्त है। ईश्वर का वह अंश है, वह सदा ईश्वर में विराजता है, ईश्वरसे वह सदा एकरूप रहता है, अतः वैदिकधर्मी सदा ईश्वर से अभिन्न और अनन्य अपने आप को अनुभव करता है। सब अन्य संप्रदायवाले ईश्वर की अनन्य उपासना कर ही नहीं सकते, इस का कारण यही है कि, वे सब संप्रदाय ' मैं अन्य हूं और ईश्वर अन्य है', अर्थात् ' दोनों परस्पर से पृथक् हैं, ऐसा मानते हैं। परस्पर को अन्य माननेवालोंसे अनन्य-उपासना ' कैसी हो सकती है ? वैदिकधर्मी तो विश्व को ही ईश्वर का रूप मानता है, अतः वह अपने आपको

विश्वरूपी ईश्वर का अंश अथवा विश्वरूप में संमिलित मानने के कारण कभी ईश्वरसे भिन्न मान ही नहीं सकता, अतः वह सदा अपने आप को ईश्वरमें, ईश्वर के विश्वरूप में समाविष्ट अर्थात् ईश्वर से अपृथक् किंवा अनन्य ही देखता है इसीलिये यही अकेला वैदिकधर्मी ईश्वर की अनन्य भक्ति कर सकता है।

अंश की पूर्णता अंशीके सेवा में ही है। वैदिकधर्मका यह मुख्य तात्पर्य है। विश्वरूप ईश्वर की सेवा करने का तात्पर्य मैं अपनी ही सेवा करता हूं ऐसा है, क्योंकि मैं विश्वरूप ईश्वर का अंश हूं और विश्वरूपी ईश्वर अंशी है। यहां ईश्वर और जीवका अंशी-अंश सम्बन्ध है। व्यक्तिकी दृष्टि से जीव अंश है, परन्तु जब वह अपना पृथक् अहंकार छोडकर विश्वरूपके साथ एकरूप होता है, तब वही विश्वभावना से बोलता है। वेद में इस विश्वभाव के मंत्र भी हैं, वे आगे के लेखों में बताये जायंगे। भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण विश्वरूप भावना से बोलते हैं और अर्जुन व्यक्तिभाव से बोलता है। विश्वरूपभावना पर आरूढ होना ही भगवान् बनना है। वैदिकधर्मी ही इस तरह भगवान् बन सकता है।

अन्यान्य संप्रदायों में ईश्वर की प्राप्ति जन्मजन्मांतर में कभी होगी तो होगी, पर वैदिक धर्म का ज्ञान होते ही पता लगता है कि, ईश्वर सदा प्राप्त ही है, केवल उसकी सेवा करना ही अपना धर्म है। यही व्यक्ति का कर्तव्य है।

इस तरह जितना विचार किया जाय, उतनी वैदिक धर्म की विशेषता अन्य संप्रदायों के मंतव्यों की अपेक्षा से स्पष्ट प्रतीत होती है। इसीलिये हम कहते हैं, वैदिक धर्म ही संपूर्ण ईश्वर का साक्षात्कार कराता है और अनन्य भाव का अनुभव भी स्पष्टता के साथ प्रकट कराता है। किसी अन्य धर्म से जो बात नहीं सिद्ध हुई, वह वैदिक-धर्म ने सिद्ध करके बतायी है!

विश्वसेवा और महायुद्ध।

यदि सब देशों में वैदिक धर्म का प्रचार होगा, तो सब मानवजाति विश्वसेवा के व्रत में लगी रहेगी। प्रत्येक के लिये इस उपास्य देव परमात्मा की प्राप्ति अथवा पहचान होगी, तो परस्पर आदरपूर्वक सहायता करना ही एक मात्र कर्तव्य उसके लिये रहेगा। मानवजाति की सेवा करने में दत्तचित्त होने के कारण सब मानव परस्पर के सहायक होंगे।

ऐसा होने पर आज के जैसा मानवोंका संहार क्योंकर होगा? ये सब देश तथा इन सब देशों के सब मानव आज जो परस्पर का विध्वंस करने में लगे हैं, वे वैदिक धर्म का प्रचार सब देशों में हो जाने पर परस्पर के सहायक बनेंगे। जिस समय तन, मन, धन से ये विश्वकी सेवाके लिये समर्पण होंगे, उस समय सच्चा वैदिक यज्ञ प्रारम्भ होगा। उसी वैदिक यज्ञ से सब की दैवी संपत् प्रकट होगी। वह दिन शीघ्र उदित होना चाहिये।

ब्राह्मण अपने ज्ञान के द्वारा, क्षत्रिय अपनी रक्षाद्वारा, वैश्य धनधान्य उत्पन्न करनेद्वारा और शूद्र अपनी कारीगरी-द्वारा जनता की सेवा निष्काम भाव से करे, यही वैदिक-धर्म का आदेश है। विश्व में वैदिक धर्म प्रचलित न होने से क्या बन रहा है? देखिये और विचार कीजिये। इस हानि से बचाने का सामर्थ्य अकेले वैदिक धर्म में ही है।

अन्य भाव का फैलाव।

जगत् में अन्य भाव का फैलाव किया गया है। वैदिक धर्म 'अनन्य भाव' का प्रतिपादन करता है। विश्वरूप अंशी है और व्यक्ति अंश है। अंशी-अंश का अनन्य संबंध है। यह इससे पूर्व बताया है। वैदिक धर्म के सब भूमंडल पर जाग्रत न रहने से 'अनन्यभाव' जनता के व्यवहार से उड गया है और सर्वत्र 'अन्य भाव' व्यवहार में छाया गया है। मानवजाति शक्तिमान होने से जो चाहती है, कर छोडती है। उसने अन्य भाव को बढाना चाहा, अतः अन्य भाव बढ गया है। आज के सब व्यवहार अन्य भाव के आश्रय से हो रहे हैं। येही दुःख के मूल हैं, अतः 'अनन्य भाव' बढाना मानवों को योग्य है।

द्वैत, द्वन्द्व और युद्ध।

जो संप्रदाय द्वैत माननेवाले हैं वे प्रत्येक जीव स्वतन्त्र तथा परस्पर भिन्न अर्थात् एक दूसरेसे पृथक् है, एक दूसरेसे अन्य है, ऐसा मानते है। प्रायः जैन बौद्ध, ईसाई, मोहमदीय, शैव, वैष्णव, गाणपत्य आदि सभी इस तरह के द्वैत को मानते है। 'द्वैत' का अर्थ द्वन्द्व है और 'द्वन्द्व' का अर्थ

'युद्ध' ही है। द्वैत, द्वन्द्व और युद्ध ये एकार्थवाची शब्द हैं। अन्य भाव से द्वैत, द्वैत से द्वन्द्व और द्वन्द्व से युद्ध होना अपरिहार्य है। द्वैत पर अथवा अन्य भाव पर आज का समाज चल रहा है, इस कारण उसको सदा स्पर्धा करनी पडती है। स्पर्धा युद्ध का ही नाम है। इसलिये जो लोग द्वैत मान रहे हैं वे युद्ध की ही उत्तेजना देते हैं, और युद्ध की जड अपने जीवन में सुरक्षित करते हैं। ऐसे लोगों के व्यवहारों से जगत् में शान्ति स्थापन करने की आशा व्यर्थ है। इसीलिये सभी अन्य संप्रदाय युद्ध का क्षेत्र बढाने के कारण बने हैं। एक ही वैदिक धर्म ऐसा है कि, जो '**अनन्य भाव**' को अपना मन्तव्य मानता है, सब एक ही सत्ता है, ऐसा स्वीकार करता है, समभाव से अर्थात् ब्रह्मभाव से सब की ओर देखता है, इस कारण इस धर्म से संघर्ष नहीं बढ सकता। यह इसी धर्म की विशेषता है, जो सब कालों में मानवों का हित कर सकती है।

अन्य संप्रदाय और वैदिक धर्म में यह बडा भारी भेद है, जिस कारण अन्य धर्मोंसे वैदिक धर्म विशिष्ट हुआ है। सब अन्य संप्रदायोंका विचार किया जाय और उन की तुलना की जाय, तो स्पष्ट दीख सकता है कि, ये सब संप्रदाय वैदिक धर्म के एक एक अंश का अवलंबन करके जीवित रहते हैं। देखिये-

१ नास्तिक

जैनबौद्धादिक- ईश्वर नहीं, जीव बनता है, संसार दुःखरूप और त्याज्य है।

२ आस्तिक

ईसाई, मोहमदीय- ईश्वर तीसरे आसमान में है, वह जीवों की सहायतार्थ पैगंबर भेजता है, जीव उत्पन्न हुआ है, संसार दुःख और त्याज्य है।

शैववैष्णवादि- ईश्वर ब्रह्मलोक में है, वह अवतार लेकर मानवों की सहायता करता है, गुरु बतलाता है, साक्षात्कार-द्वारा दर्शन देता है, जीव हैं, साधन-द्वारा मुक्त होते हैं। संसार दुःखमय तथा त्याज्य है।

व्यापकईश्वरवादी- ईश्वर सर्वत्र है, परन्तु विश्वसे पृथक् है। [अवतार आदि पूर्व-वत् समझो]

वैदिकधर्मी- ईश्वर विश्वरूप है, प्रत्येक रूप उसी का रूप है। प्रत्येक जीव उस का अंश है, ईश्वर अंशी है। सब संसार ईश्वर-रूप होनेसे आनन्दमय है। इ०

पाठक उक्त मन्तव्यों का विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, एक से दूसरे में सुधार है। इतिहास की दृष्टिसे देखा जाय, तो यह मानना पडेगा कि—

१. मोहमदीयोंका धर्म	१३००	वर्ष
२. ईसाई धर्म	२०००	,,
३. जैनबौद्धों के धर्म	२५००	,,
४. शैववैष्णवों के मूल धर्म	३०००	,,
[शैववैष्णवपंथ आधुनिक हैं]		
५. व्यापक ईश्वर माननेवालोंके धर्म	५०००	,,
६. वेद का धर्म	८०००	वर्ष

पूर्वकाल जितना माना जा सकता है।

शैववैष्णवादि पंथ जिनका उद्गम श्री० रामानुज वल्लभ आदि आचार्यों से हुआ तथा व्यापक परब्रह्म माननेवाले श्री० शंकराचार्यका काल भी आधुनिक है। इन आचार्योंने ये पंथ पुनः प्रचलित किये। इससे पूर्व समय ये मत बीज रूपसे प्रचलित थे। हमने यहां जो समय लिखा, वह बीज-मत का समझना चाहिये।

वैदिक धर्म सहस्रों वर्षपूर्व के समय का है। कई लोग उसे कल्प के प्रारंभ से मान रहे हैं। कई नये संशोधक स्व० तिलक आदि उस को हिमयुग के पूर्व अर्थात् ८००० वर्ष पूर्व मानते हैं, कई २५००० वर्षपूर्व का मानते हैं, कई इस से पूर्व का समझते हैं। अतः ८००० वर्ष के पूर्व का वैदिक धर्म मानने में कोई हर्ज नहीं है, कितनी भी प्राचीनता उसकी हो, परन्तु वह ८००० वर्षों की मर्यादा की इस ओर नहीं आ सकता। अन्यान्य संप्रदायों की अन्तिम से अन्तिम मर्यादायें हमने ऊपर लिखी हैं।

पाठक यहां स्मरण रखें कि, हमने जानबूझकर वैदिक धर्म की आदिम से आदिम मर्यादा ली है और अन्य धर्मों की अन्तिम से अन्तिम मर्यादा ली है। इस से अनुमान

करने में अन्य मतों को अनुकूलता और वैदिक धर्म के लिये थोडीसी प्रतिकूलता होगी। पर ऐसा करने पर भी वैदिकधर्म की प्राचीनता ही सिद्ध हो रही है, क्योंकि इन सब धर्मों के ग्रंथोंमें वेद का उल्लेख मिलता है, इसलिये वैदिक धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

वैदिक धर्म सभी धर्मोंमें अत्यंत प्राचीन है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है। यह धर्म ऋषिकाल में प्रचलित था। पश्चात् जनता में व्यक्तिभाव बढ गया और अनन्य भाव का लोप होने लगा। जनताने 'अन्य भाव' के परिणाम इस समय तक देख लिये और द्वैतके परिणामस्वरूप ये महायुद्ध भी देख लिये हैं!! इसलिये द्वैतभाव पर आश्रित हुए समाज और राष्ट्रप्रणाली से संपूर्ण जनता का हित होना संभव नहीं है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। सभी अन्य संप्रदाय द्वैत का आश्रय करनेवाले हैं।

जगत् मिथ्या या ब्रह्मरूप ?

एक ही अद्वैतसंप्रदाय है, पर वह **जगन्मिथ्यावाद** का प्रतिपादन कर रहा है, इसलिये मिथ्या जगत् के अन्दर के कलह उस से शान्त होने की संभावना नहीं है। इनकी जो तत्त्वप्रणाली है, उस में जगत् को भ्रम कहा जाता है। वैदिक सदैक्यवाद के अनुसार संपूर्ण विश्व परमात्मा का रूप है; अतः वह कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। यह भेद अद्वैतवादमें और वैदिक सदैक्यवाद में है। पाठक वैदिक सदैक्यवाद और अद्वैतवाद को एक न समझें। इन दोनों में जमीन-आस्मान का अन्तर है।

मायावादी अद्वैती जगत् को मिथ्या, भ्रम, न हुआ, त्याज्य, हेय मानते हैं, पर सदैक्यवादी विश्व को ईश्वर का स्वरूप, ईश्वरका रूप होनेसे प्रवाह से अनादि अनन्त सत्य और ईश्वर का रूप होनेसे ही सेवा के योग्य, उपास्य और आनन्दपूर्ण मानते हैं। अद्वैती जन्म को दुःख का कारण मानते हैं, पर सदैक्यवादी जन्म से ही ईश्वररूप में अवस्थिति होने की संभावना मानते हैं। इसलिये यद्यपि मायावादी अद्वैत मत अथवा '**अद्वैत**' मानता है, तथापि वह '**एकत्व**' को मानता है, ऐसा समझना भूल है। अद्वैत माननेवाले '**दो नहीं**' ऐसा मानते हैं, पर वे कदापि '**एक ही है**' ऐसा नहीं कहते!! पर सदैक्यवादी '**सत् एक ही है,**' ऐसा निःसंदेह कहते हैं। 'दो नहीं' ऐसा कहनेवालों की अपेक्षा '**एक सत्ता**' माननेवालों का निश्चयात्मक एकत्व का भाव अधिक स्पष्ट है, इस में कोई सन्देह नहीं है।

इसलिये पाठकों को यह ठीक तरह ध्यान में धारण करना योग्य है कि, मायावादी अद्वैती संप्रदाय यद्यपि वैदिक सदैक्यवाद के बहुत ही समीप हैं, तथापि वे भी सदैक्यवाद से दूर ही हैं। इसलिये अन्य सभी संप्रदायों की अपेक्षा वैदिक सदैक्यवाद एक विलक्षण अद्भुत धर्म है, जो सामर्थ्य में किसी अन्य संप्रदाय में नहीं है। अन्य संप्रदायों से अद्वैत संप्रदाय अच्छा है, पर उसमें जगद्भ्रमवाद होने के कारण सदैक्यवाद की जो विशेषता है, वह पूर्णतया मारी जाती है। इस का कारण यह है कि, हमें जो धर्म देखना है, वह इस विश्व में ही देखना है और वह इनके मत से हुआ मिथ्या!!! मिथ्या जगत् में व्यवहार करने के लिये कौन प्रवृत्त होगा? इसलिये मायावादी संप्रदाय जगत् की सुव्यवस्था से पराङ्मुख होते जाते हैं। पर सदैक्यवादी विश्व को ईश्वर का स्वरूप मानते हैं और उस की सेवा करना अपना धर्म समझते हैं, इसलिये सत्य विश्व में वे अपने सत्य धर्म को देख सकते हैं। अतः मायावादी अद्वैत संप्रदाय **वैदिक सदैक्यवाद** से सर्वथा पृथक् है, यह बात पाठक यहां न भूलें।

हमने ऊपर जो संप्रदायों का विचार किया, उन में मायावादी अद्वैत संप्रदाय का पृथक् उल्लेख किया नहीं। इस का कारण इतना ही है कि, संसार दुःखपूर्ण होने आदि सभी मंतव्य इनमें वैसे ही हैं कि, जैसे पूर्वोक्त अन्यान्य संप्रदायों में हैं। इसलिये मायावादी अद्वैत संप्रदाय का विचार सर्वव्यापक ईश्वरवादियों के मत में हो चुका है, ऐसा ही समझना उचित है।

इस सब विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि, वैदिक '**सदैक्य-वाद**' ही एक ऐसा धर्म है कि, जो संपूर्ण मानवी समाज को विनाश से बचा सकता है। नहीं तो द्वैतवादियोंने जो द्वन्द्वभाव शुरू किया, उस का फलस्वरूप आज का महायुद्ध है और यदि वैदिक सदैक्यवाद की पुनः प्रतिष्ठा शीघ्र नहीं होगी, तो मानवजाति का संहार करनेवाला इस से भी अधिक बडा महायुद्ध होना अनिवार्य ही होगा, क्योंकि जगत् की सभ्यता इस समय

'द्वन्द्वभाव' के आश्रय से चल रही है।

द्वन्द्वभाव का राज्य ।

इस विश्व में इस समय 'द्वन्द्वभाव' का राज्य है। समाज की प्रत्येक श्रेणि में यह द्वन्द्वभाव कूटकूटकर भरा है। पहिला द्वन्द्व '**राजा × प्रजा**' का है दूसरा '**पूंजी-पति × मजूरों** का है, तीसरा द्वन्द्व '**शिक्षित × अशिक्षितों**' का है, चौथा द्वन्द्व 'साम्राज्यवादी × दलित मानवों का है, पांचवां द्वन्द्व 'राष्ट्रवाद × साम्यवाद' का है, छठां द्वन्द्व 'ब्राह्मण × अब्राह्मणों' का है, सातवां द्वन्द्व किन्हीं दो संप्रदायों के संघर्ष में दीखता है, जैसा भारत में 'हिंदु × मुसलमानों' का है, आठवां द्वन्द्व 'गुरु × शिष्यों' का है, जो स्कूलों और कालेजों की हडतालों में दिखाई देता है। नववां द्वन्द्व अधिकारी × अनधिकारियों का है, जो रिश्वतखोर ओहदेदारों के सम्बन्ध में व्यक्त होता है, दसवां द्वन्द्व 'व्यापारियों और ग्राहकों' का है। ऐसे सैकडों द्वन्द्व इस समय खडे हैं, जिन में अटकी हुई जनता सतायी जा रही है। कारण के बिना ये क्लेश खडे हुए हैं। **सदैक्यवाद के प्रस्थापित होने से ये सब द्वन्द्व समाप्त हो सकते हैं** और संपूर्ण जनता में परस्पर सहायता का भाव उत्पन्न होकर सब जनता अपूर्व आनन्दमय होने का अनुभव कर सकती है।

सदैक्यवाद कहता है कि राजा, प्रजा आदि द्वन्द्वों में वर्तमान प्रजाजन एक ही 'सत्' भाव के अंशभाक् हैं, इसलिये उन को उचित है कि, वे परस्पर सेवा करते हुए परस्पर के सहायक बनें। द्वैतवादियों के द्वैतमत के विशेष प्रचार से और प्रत्येक की सत्ता स्वतन्त्र तथा परस्पराश्रित न मानने से प्रत्येक जीव अपनी व्यक्तिमत्ता बढाता है और दूसरों को खा जाने का यत्न कर रहा है। इसी तरह राजाप्रजा के द्वन्द्व का विचार कीजिये। राजा कहता है कि, मेरे सुकृतसे मेरे भोगके लिये यह राज्य मुझे प्राप्त हुआ है, इसलिये मैं इस का भोग करता हूं। प्रजा तो मेरी भोग्य ही है। प्रजा कहती है, प्रजा के कारण राजा का राजापन है, इसलिये हम राजा का शासन नहीं मानेंगे। इस तरह यह द्वन्द्व इस विश्व में सर्वोपरि शासन कर रहा है। वेद का सदैक्यवाद ही इस विषय में योग्य संदेश दोनों को देता है और दोनों को समझाता है कि, दोनों राजा और प्रजा मिलकर एक 'सत्' होता है। यहां राजा भी स्वतन्त्र नहीं है और प्रजा भी स्वतन्त्र नहीं है। राजा और प्रजा मिलकर असली एक सत्ता है, इसलिये राजा को प्रजा का सेवक और सहायक बनना चाहिये और प्रजा को राजा की सेवक और सहायक बनकर दोनों को परस्पर की सहायता करनेद्वारा '**अनन्यभाव**' से सब कार्य करने चाहिये। और आनन्द का अनुभव लेना चाहिये।

'**अनन्यभाव**' अर्थात् 'यहां दूसरा कोई नहीं, दोनों मिलकर एक सत्ता है,' इस भाव से व्यवहार करना ही सदैक्यभावसे व्यवहार करना है। इस तरह सदैक्यभावसे दोनों का पृथग्भाव अथवा द्वैतभाव दूर होता है, और सदैक्यभावका उदय होता है, जो सबके हित और आनन्द का हेतु है।

विश्व में कोई '**दूसरा**' अथवा '**अन्य**' नहीं है, सब विश्वभर में एक ही एक अद्वितीय 'सत्' भाव है, इस को जान कर उस एक सत् के लक्ष्य के अनुरोधसे सब व्यवहार करने से संपूर्ण आपत्तियों का नाश हो सकता है। इस समय के राज्यशासन के कायदेकानू, विधिनियम सब के सब द्वन्द्वभाव को बढानेवाले हैं और सदैक्यभाव का नाश करनेवाले हैं।

देखिये एक दुकानदार अपने पास बहुत धान्यसंग्रह करता है और धान्य महंगा होनेतक उसको बंद करके रख देता है, और बडा महंगा करके बेचकर बडा धन कमाता है। प्रजापति का धान्य है और वह सब प्रजा के पोषण के लिये उत्पन्न हुआ है। यह बात सदैक्यवादी हि जान सकता है। पर द्वैतवादी इसे व्यापारकौशल कहता है और लाभ की ओर दृष्टि रखता है। ऐसी दृष्टि रखना सदैक्यवाद की शासनप्रणाली में नहीं हो सकता। पर आजके सब वैधनियम इस लाभदृष्टिवाले धनिकोंके हितकी रक्षा करने के लिये ही बने हैं, इसलिये इन का नियंत्रण नहीं होता और यह आपत्ति अनेक प्रकारों से बढ रही है।

इस तरह सैकडों कानूनी नियम बताये जा सकते हैं कि, जिन में समभाव तो कहीं भी नहीं है, परन्तु विषमभाव ही बढाया जा सकता है और विशेष श्रेणियोंका हित करने में और दूसरों को दबानेमें दक्षता दीखती है। जिस समय सदैक्यवाद का राज्यशासन होगा, उस समय इस तरह

की विषमता नहीं रहेगी। सर्वत्र 'समभाव' अथवा 'समदृष्टि' से सब नियम बनाये जायंगे, जो आदि ऋषि-काल में थे।

स्वयंशासन।

प्रत्येक मानव सदैक्यवाद में स्वयंशासक बनेगा। इस-लिये उस का नियमन करने के लिये दूसरे किसी शासक की जरूरत नहीं लगेगी। इस कारण राज्यशासन अल्प व्यय में होगा। इस तरह वैदिक सदैक्यवादके सर्वत्र प्रच-लित होने से अनेक लाभ हो सकते हैं। इस का विवरण संपूर्ण रीतिसे पाठक आगे आनेवाले लेखोंमें देख सकते हैं।

इस समाज और राज्यव्यवस्थाके लाभोंका वर्णन करनेके पूर्व हमें सबसे प्रथम वैदिक सदैक्यवाद का स्वरूप अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। क्योंकि वैदिक सदैक्यवाद वेदमन्त्रों के प्रमाणों से पूर्णतया जबतक सिद्ध नहीं होता, तबतक वेदमें '**सदैक्यवाद**' नामसे एक श्रेष्ठ वाद है, इसका भी ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। इसलिये वैदिक प्रमाणों से वेद के सदैक्यवाद की सिद्धि हम सब से प्रथम करेंगे। यह विषय आगे छपनेवाले कई लेखों में पाठक देख सकते हैं-

भीष्मकी उत्तरायण-मृत्युका रहस्य।

[ले०- श्री० धर्मराज वेदालङ्कार शास्त्री]

१. महाभारतमें उत्तरायणप्रतीक्षा का वर्णन।

प्रसिद्ध है कि, भीष्मपितामहने मरते हुए, सूर्य के उत्तरायण होने की कई महीनोंतक प्रतीक्षा की। महाभारत भीष्मपर्व १२० वें अध्याय में लिखा है—

पतन् स ददृशे चापि दक्षिणेन दिवाकरम्।
संज्ञां चोपालभद्वीरः कालं सञ्चिन्त्य भारत॥
धारयामास च प्राणान् पतितोपि महीतले
उत्तरायणमन्विच्छन् भीष्मः कुरुपितामहः॥
शेष्येऽहमस्यां शय्यायां यावदावर्त्तनं रवेः।
दिशं वैश्रवणाक्रान्तां यदा गन्ता दिवाकरः॥
विमोक्ष्येहं तदा प्राणान् सुहृदः सुप्रियानपि।
उपासिष्ये विवस्वन्तमेवं शतशरार्चितः॥

इन श्लोकों से प्रमाणित होता है कि, शरशय्यापर अवस्थित होकर भीष्म यह देखने लगे कि, कब सूर्य दक्षिण दिशा से लौटकर वैश्रवण या कुबेरसे आक्रान्त उत्तर दिशा की ओर आता है, क्योंकि उन्होंने तभी अपने सुप्रिय प्राणों को छोडने का सङ्कल्प किया था।

यह जानकर कि कितने ही सन्त, महात्मा और ऋषि-मुनि दक्षिणायनसूर्य में भी देह-लीलाका संवरण करते हैं, हम यह आसानी से नहीं समझ सकते कि भीष्म की उत्तरायणप्रतीक्षा का क्या मर्म है। ऋषि दयानन्द और स्वामी रामतीर्थ की निधनतिथि दीपावली का दिन है, जो कि सूर्य के दक्षिणायन होते हुए आता है। इस अवस्था में क्या हम यह समझ लें कि, उन की सद्गति न हुई होगी?

यह प्रश्न है जो अनेक वार साधारण तर्कबुद्धि रखनेवाले व्यक्तियों में भी उठना स्वाभाविक है। इस लेख में हम इसी का समाधान करने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे।

२. दो मार्ग।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जीवन बिताने के दो मार्गों का वर्णन है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में निम्न मन्त्र उपलब्ध होता है-

द्वे सृती अशृणवं पितृणाम्
अहं देवानामुत मर्त्यानाम्
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति
यदन्तरा पितरं मातरं च।

इसी प्रकार अथर्व में भी—

ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः।
सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम॥
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्रदेवयानम्।

इन वेदमन्त्रों में देवयान और पितृयान के नाम से दो मार्गोंका वर्णन है। कठोपनिषद् में इन्हीं को श्रेय और प्रेय, इन शब्दों से पुकारा है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं
सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते

यहां श्रेय और प्रेयमार्ग को बिल्कुल अलग अलग बतलाया है। दोनों मार्गों को सरल शब्दों में मोक्षमार्ग और भोगमार्ग भी कह सकते हैं। देवयान अथवा श्रेयमार्ग में मनुष्य ऐहलौकिक ऐश्वर्य और एषणाओं का त्याग करके परमार्थ अर्थात् आत्मप्राप्ति के मार्गका अनुसरण करता है। इस के परिणामस्वरूप वह सांसारिक बन्धन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

इस के विपरीत प्रेयमार्ग अथवा पितृयान में मनुष्य भोगैश्वर्य में लिप्त रहता हुआ सन्तान उत्पन्न कर के पितृऋणको चुकाने का प्रयत्न करता है। देवयानको ज्ञानकाण्ड भी कहते हैं, क्योंकि इस में ज्ञान अथवा आध्यात्मिक साक्षात्कार करना ही प्रधान होता है, किसी सांसारिक पदार्थ की आकाङ्क्षा न रहने से सकाम कर्म के लिये इस में

कोई गुञ्जाइश नहीं होती। ज्ञानप्राप्ति के द्वारा देवों और ऋषियोंके ऋण से उऋण होते हैं। इस प्रकार देवयान और ज्ञानकाण्ड, ये दोनों एक ही हैं। पितृयानका कर्मकांड होना स्पष्ट ही है। कठोपनिषद् के 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।' इस वाक्यमें ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड को विद्या और अविद्याके मार्ग के रूप में स्मरण किया है।

इसके अतिरिक्त इन मार्गों को सूर्यमार्ग या अर्चिरादि मार्ग और चन्द्रमार्ग भी कहा जाता है। देवयानमें आध्यात्मिक ज्योति की उपलब्धि होने से यह प्रकाशमार्ग या अर्चिरादि मार्ग है। मूर्त शब्दों में यह सूर्यमार्ग है। दूसरी ओर पितृयान अन्धकारमार्ग है। बारबार शरीर के चक्करमें घूमते रहना इसी तरह है, जैसे कोई अन्धेरे में चक्कर काट रहा हो। यजुर्वेद के 'अन्धं तमःप्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' इस मन्त्रांश में इसी स्थितिको चित्रित किया है। चन्द्रमार्ग इसे इस लिए कहते हैं कि, चन्द्र पर अपना प्रकाश तो होता ही नहीं, जो थोडाबहुत होता है, उस का कारण भी सूर्य है। सांसारिक जीवन अन्धकारमय है, इस में कभी कभी रोशनी जो दीख पडती है, आत्मा की सतह से ही स्फुरित होती है। चन्द्रमार्ग कहे जानेका एक और कारण भी है, जैसे देवों का छः महीने का दिन होता है, इसी प्रकार हमारे १५ दिन के बराबर चन्द्र का एक दिन होता है। पितरोंके दिनकी अवधि भी इतनी ही है, अर्थात् जितने में हमारा शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष होता है, उतने समय में इन का एक अहोरात्र होता है। चन्द्र के साथ पितरों के इस सादृश्य के आधार पर ही पितृयानको चन्द्रमार्ग कहना उचित प्रतीत होता हैं। इसके अतिरिक्त एक तीसरा कारण भी है। पितृयान में सन्तानोत्पत्ति होने से भी इसे चन्द्रमार्ग कह सकते हैं। वैदिक परिभाषा में सन्तान को चन्द्र कहते हैं। चन्द्र [चदि आह्लादे] के समान पुत्र भी आह्लाद देनेवाला होता है और उस की भी क्रमशः कलावृद्धि होती है। वेदमें पिता द्यौ है और माता पृथिवी। अथर्ववेद के 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्' इस वाक्यमें पति पत्नीको द्यौ और पृथिवी कहा है। आकाश और धरती के बीच में जैसे चन्द्र की शोभा है, उसी तरह माँ-बाप अथवा पति-पत्नी के मध्य में पुत्ररूपी चन्द्र शोभायमान होता है। यजुर्वेद में देवयान और पितृयान को संभूति और विनाश इन शब्दों से भी याद किया है।

अस्तु, इन मार्गों के विभिन्न नाम ये हुए—

१ देवयान	पितृयान
२ श्रेयमार्ग	प्रेयमार्ग
३ अर्चिरादि [सूर्य] मार्ग	चन्द्रमार्ग
४ मोक्षमार्ग	भोगमार्ग
५ ज्ञानकाण्ड	कर्मकाण्ड
६ विद्या	अविद्या
७ सम्भूति	विनाश

३. दो मार्गोंका उत्तर दक्षिण से सम्बन्ध।

अब यहां एक बात ध्यान देनेयोग्य है कि, इन दोनों मार्गों का सम्बन्ध उत्तर और दक्षिण से है। पितृयान के विषय में प्रसिद्ध है कि यह दक्षिण में है— पितरों का धाम दक्षिण दिशामें माना गया है। नीचे लिखे ब्राह्मणवाक्य बडे स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को उद्घोषित कर रहे हैं।

दक्षिणावृत् हि पितृलोकम् [तैत्तिरीय १।६।८।२]
पितॄणां वा एषा दिग् यद् दक्षिणा [षड्विंश ३-१]
दक्षिणासंस्थो वै पितृयज्ञः [कौषीतकि ५-८]
मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पान्तु
[शतपथ ३-५-२-६]

साथ ही देवलोक उत्तर में है, ऐसा भी वेद के अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। ऋग्वेदके वृषाकपिसूक्तमें 'विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः' यह वाक्य ध्रुवपद है और सूक्तके प्रत्येक मन्त्र के अन्त में आता है। इसमें देवराज इन्द्र का स्थान सम्पूर्ण विश्वसे उत्तर दिशा में बतलाया है। शतपथ ब्राह्मण २-१-३ में कहा है।

'वसन्तो ग्रीष्मो वर्षास्ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः। स [सूर्यो] यत्रोदग् आवर्त्तते, देवेषु तर्हि भवति, यत्र दक्षिणा वर्त्तते पितृषु तर्हि भवति।'

सूर्य के उत्तरायण होनेपर वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा, ये ऋतुएं आती हैं। इन्हें इस उद्धरण में देव ऋतु कहा गया है। सूर्य के दक्षिणायन होनेपर शरद्, हेमन्त और शिशिर ऋतु होती है, इन्हें पितृऋतु कहा गया है। शतपथ के इस वाक्य के अनुसार सूर्य के उत्तरमें होने का

अर्थ है कि, वह देवों में है और दक्षिणमें होने का मतलब है कि वह पितरों में है। इसी आशय को प्रगट करनेवाला [शतपथ २-१-३-३] का एक और वाक्य भी है—

'स [सूर्यः] यत्रोदङ्आवर्त्तते देवेषु तर्हि भवति, देवाँस्तर्हि अभिगोपायति। अथ दक्षिणावर्त्तते पितृषु तर्हि भवति-पितॄँस्तर्हि अभिगोपायति।'

याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय का १८४ वां श्लोक निम्न प्रकार है–

'पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्। तेनाग्निहोत्रिणो यांति स्वर्गकामा दिवं प्रति।'

भावार्थ यह है कि, अग्निहोत्र करनेवाले कर्मकाण्डी लोग पितृयान से स्वर्ग की ओर जाते हैं। अजवीथी और अगस्त्यके बीच के स्थान का नाम पितृयान है। ज्योतिर्विद् जानते हैं कि, अजवीथी और अगस्त्यका स्थान आकाशके दक्षिण भाग में है। अगस्त्य [Canopus] तारा दक्षिण में उदित होता है, यह तो सभी जानते हैं। अजवीथी, यह वही दशम राशि है, जिसे पाश्चात्य लोग [Capricorn goat] कहते हैं। हमारे ज्योतिष में इस का प्रसिद्ध नाम मकर है। मकरराशि और इसी के आधारपर बनी भूगोल की मकररेखा का स्थान दक्षिण में है।

इसी ग्रन्थके १८७ वें श्लोक का एक अंश यह है—

'सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः'

यहां देवलोक को सप्तर्षि और नागवीथी के बीच में– अर्थात् उत्तर में बतलाया है। सप्तर्षि [Ursa Major,] का उत्तर में होना सर्वसाधारण को भी मालूम है। इस के अतिरिक्त सप्तर्षि के पास ही आजकल के ताराचित्रों में एक सांप दिखाया जाता है, जिसे Draco, Dragon, या नाग कहते हैं।

इस प्रकार देवयान का उत्तरसे और पितृयानका दक्षिण से गाढ सम्बन्ध होना अत्यंत स्पष्ट है।

४. मार्गोंके भिन्न भिन्न नामोंका परस्पर सम्बन्ध।

इस प्रसङ्ग में निरुक्त.१४ वें अध्याय के निम्न वाक्योंका ध्यानपूर्वक पर्यालोचन करने से दोनों मार्गोंके भिन्न भिन्न नामों का पारस्परिक सम्बन्ध सरलता से समझ में आ सकता है–

'अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे, चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, ते धूममभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिम्, रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम्, अपक्षीयमाणपक्षाद् दक्षिणायनम्, दक्षिणायनात् पितृलोकं प्रतिपद्यन्ते।

अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसंभवन्ति, अर्चिषाहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्, आपूर्यमाणपक्षाद् उदगयनम्, उदगयनाद् देवलोकम्, देवलोकाद् आदित्यम् आदित्याद् वैद्युतम्, वैद्युतान्मानसम्, मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसंभवन्ति, तेन पुनरावर्त्तन्ते शिष्टाः।

इन वाक्यों के आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि, विद्या को छोडकर जो व्यक्ति हिंसा और कर्मकाण्ड में रत रहते हैं, वे क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन और पितृलोक को प्राप्त होते हैं। इस के विपरीत हिंसा और कर्मकाण्ड छोडकर ज्ञान की उपासना करने से मनुष्य प्रकाश की ओर अग्रसर होते हैं और क्रमशः शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक आदित्य, वैद्युत, मानस और ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर वहां से लौटते नहीं।

निरुक्तकार यास्क मुनि की दृष्टिमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन और पितृलोक ये सब एक ही मार्ग के भिन्न भिन्न पडाव हैं। ऊपर हमने भोगमार्ग को चन्द्रमार्ग या अन्धःकारमार्ग कहा है। यह मार्ग अन्धःकारसे घिरा होने के कारण इसे धूम या धूएं का रास्ता अथवा सूर्य के प्रकाश से रहित रात्रि का मार्ग या ज्योत्स्नाविहीन कृष्णपक्ष का पथ भी कह सकते हैं। सन्तानद्वारा पितरों को इस में तृप्त किया जाता है, इसलिये इसके द्वारा पितृलोकमें पहुंचना भी समझ में आ सकता है। लेकिन इस सब के अलावा इस मार्ग को यहां दक्षिणायन भी कहा है। इस का क्या तात्पर्य है ?

५. उत्तरायण और दक्षिणायन।

यहां शतपथ और प्रश्नोपनिषद् में सामान्य रूपसे मिलनेवाले नीचे लिखे वाक्य और देखिये ।–

' संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते, त एव पुनरावर्तन्ते, तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिः यः पितृयाणः । अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयंते ॥

' शतपथमें एक पथ ' पुस्तक के लेखक पण्डित बुद्धदेव विद्यालङ्कार के शब्दों में इस सन्दर्भ का आशय है-' संवत्सर एक प्रजापति है, जिसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं, सो जो लोग सांसारिक इष्टापूर्त आदि कर्मों को लेकर ही हमने सब कुछ कर लिया, ऐसा समझते हैं, वे चन्द्रमा के लोक को जाते हैं और वहांसे फिर संसार में लौट आते हैं। इसीलिए सन्तानार्थी ऋषि दक्षिणायनमार्ग से जाते हैं। यह रयिमार्ग है। यह पितृयानमार्ग है।

उसके पीछे उत्तरायणमार्ग से तप, ब्रह्मचर्य और विद्याद्वारा आदित्यलोक को जाते हैं। '

अब यह स्पष्ट हुआ कि यज्ञी, याग और प्रजोत्पादन का मार्ग जहां पितृयान है, वहां दक्षिणायन भी है। विद्या और ब्रह्मचर्यद्वारा आत्मान्वेषण का मार्ग देवयान होने के साथ साथ उत्तरायणमार्ग भी है।

अब हमें यह देखना है कि, उत्तरायण और दक्षिणायन का इन मार्गोंसे क्या सम्बन्ध है। देवलोक और पितृलोक शास्त्रों में क्रमशः उत्तर और दक्षिण में माने गए हैं, यह हम पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं, अतएव इन मार्गों को दक्षिणायन और उत्तरायण का नाम दिया जाना कोई अद्भुत बात नहीं है, किन्तु जिज्ञासा इतने से ही शान्त नहीं हो जाती। शंका होती है कि, आखिर देवों का और आत्मज्ञान का उत्तर दिशा से क्या विशेष नाता है। इसी प्रकार पितरों का और भोगवाद की दक्षिण दिशासे कौनसा आन्तरिक सम्बंध है ? बाह्य दिशाएं आभ्यन्तर ज्ञान और अज्ञान को कैसे सूचित करती हैं ?

६. उत्तर में जानेसे यशोलाभ।

सूर्य का उत्तरायण होना प्रशस्त कहा गया है। २८०० ईसवी सन् पूर्वसे १७०० ईसवी सन् पूर्वतक-अर्थात् एक सहस्र वर्षपर्यंत उत्तरायण या वसन्तसम्पात कृत्तिका नक्षत्र में होता था। इसी आधार पर इस नक्षत्र को तैत्तिरीय संहिता में ' **यशोदां त्वा यशसि तेजोदां त्वा** ' इन शब्दों के साथ स्मरण किया गया है। एवं यहां उत्तर में जाने से सूर्य का यशस्वी और तेजस्वी होना वर्णित है।

परन्तु अब भी दिल यही पूछता है कि, सूर्यको आखिरकार उत्तर में जाने से यश की प्राप्ति क्यों होती है? उस के लिये तो जैसा उत्तर वैसा ही दक्षिण। और फिर दिग्वाची शब्द तो आपेक्षिक ही हैं। दक्षिण ध्रुवप्रदेश में रहनेवाले व्यक्तिको हमारी दृष्टिसे उत्तरमें आता हुआ सूर्य दक्षिण में अयन करता हुआ प्रतीत होगा।

७. सूर्य का अर्थ वीर्य है। वीर्य का उत्तरायण ब्रह्मचर्य है।

इस गुत्थी को सुलझाने के लिए वेद के गूढार्थ को खोलकर रख देनेवाले शतपथ के इस वाक्य का मनन करना चाहिये ।–

' सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतोदेवतमापरिगृह्णाति ' [२-३-१-६३]

यहां ज्योतिःस्वरूप सूर्य को रेतोदेवत कहा है। इस वाक्यके अनुसार सूर्यका देवतात्व अथवा अपनापन ' रेतस् ' या वीर्य में है। सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायनके समान वीर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन क्या है, इस प्रश्न का उत्तर ' **ऊर्ध्वरेतस्** ' और ' **अधोरेतस्** ' शब्द दे रहे हैं। वीर्य की यदि ऊर्ध्वगति हो, इसे ज्ञान में खपा लिया जाय, स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में कहें, तो जैसे दीपक का तेल प्रकाश में खर्च हो जाता है, इसी प्रकार वीर्य को भी आत्मिक ज्योति के जगाने में व्यय कर लिया जावे, तो इसे वीर्य का ऊर्ध्वगमन या उत्तरायण कहेंगे। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि, जो विद्वान् पुरुष निरन्तर ज्ञान की साधना में व्यस्त रहते हैं, वे अधिकांश निःसंतान होते हैं। इस का कारण यही है कि, वे अपने वीर्य को- जीवन की समस्त शक्ति को- विकासमें खर्च कर

सकते हैं। ऐसे साधकों के लिए ही ऋग्वेद में कहा है, '**सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्**' हजारों नरनारियों का नेतृत्व करनेवाले क्रान्तदर्शी पुरुष अपने सूर्य की–तेजीरूप वीर्य की– रक्षा करते हैं। इसके विपरीत जिन्हें सांसारिक भोगों की लिप्सा है और जो सन्तान पैदा करके अपनी अमरताकी टोहमें हैं और मृत्युके अनन्तर भविष्य में भी स्वर्गादि द्वारा भोग ही भोगना चाहते हैं, वे सदा अपने वीर्य की गति नीचे की ओर रखते हैं। सन्तानोत्पादन और भोग में वीर्य को व्यय करनेसे मनुष्य की अपनी शक्ति का अनवरत रूपसे ह्रास होता रहता है। इसीलिये '**यः [अर्धमासः] अपक्षीयते स पितरः** [शतपथ २-१-३-१]' '**अपक्षयभाजो वै पितरः** [कौषीतकि ५-६] इन ब्राह्मणवाक्यों में पितृयान या भोगवाद की तुलना अपक्षीयमाणपक्ष [कृष्णपक्ष] से की है।

८. दक्षिण = अधोभाग।

सूर्यका उत्तरायण वस्तुतः तब होता है, जब वह पृथ्वी के उपरके भाग में होता है। उत्तर का अर्थ है ऊपर का। उत्तर के साहचर्य से 'दक्षिण' का अर्थ दांया न करके 'नीचे' करना चाहिये। दक्षिणायन सूर्य पृथ्वी के निचले भाग में होता है। पितृलोक का स्थान जहां दक्षिण में बतलाया है, वहां इसे अनेक स्थलोंमें 'नीचे' भी कहा है। जैसे शतपथ १४-६-१-१० में 'अध इव हि पितृलोकः।' अब इस वाक्यके आधारपर हम 'वीर्य' के दक्षिणायन कहने से उसकी अधोगति को बखूबी समझ सकते हैं। पितृयान या दक्षिणायन वीर्य का मार्ग अस्त में मृत्यु की ओर ले जानेवाला है, इस मार्गपर चलकर अमरता और मुक्ति की आशा करना अपने को धोखेमें रखना है।

९. दक्षिणमें मृत्युका निवास है।

दक्षिण दिशा में यम का निवास है। शतपथ १४-६-९-२२ के '**किं देवतोऽस्यां दिश्यसीति यमदेवत इति।**' इस वाक्य में दक्षिण दिशा का देवता यम बतलाया है। इसके अतिरिक्त कौषीतकि ब्राह्मण १६-८ के 'पितृलोको यमः' इस वाक्यके आधारपर पितृलोक और यमलोक की एकता का प्रतिपादन हो सकता है। जहां यम रहता

हो, उस दिशामें जानेसे न जावे मनुष्यकी कितनी भयङ्कर गति होती होगी। जैमिनीय ब्राह्मण १-१२-२ के '**निधनं पितृभ्यस्तस्मादु ते निधनसंस्थाः**' इस वचनके अनुसार यह समझ लेना चाहिये कि पितरों को प्रजापतिने मृत्यु ही दी, इसलिये पितरों की स्थिति भी निधनमें ही है। इस अवस्था के होते हुए पितरों के मार्ग पर चलकर जो व्यक्ति अपने वीर्य को भोगविलास का आनन्द लेता हुआ नीचे की ओर बहाता है, उसे स्मरण रखना चाहिये कि वह मृत्यु के मुखमें अपने आप को डाल रहा है। क्षणभर के लिये उसे आनन्द का आभास अवश्य हो जायगा, किन्तु तात्त्विक आनन्द की उपलब्धिके लिये उसे वीर्यके अपक्षय का रास्ता छोडकर देवोंके पथपर आरूढ होना ही पडेगा। ऊर्ध्वरेता होकर ही अथवा वीर्य का अयन [गति] उत्तर [ऊपर] की ओर होनेपर ही वह सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकता है। '**परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात्** [यजु० ३५-७]' इस वचनसे प्रतीत होता है कि, देवयान में मृत्यु के लिये स्थान नहीं है।

१०. अन्तिम गन्तव्यस्थान उत्तरायण है।

शतपथ १३-८-४-९।७ में कहा है– '**तत्तमसः पितृलोकाद् आदित्यज्योतिर् अभ्यायन्ते**' अन्धकारपूर्ण पितृलोकको छोडकर वे फिर ज्योतिः स्वरूप आदित्यकी तरफ आते हैं। सरल अभिप्राय यह है कि, कर्मकाण्ड और भोगवादके चक्कर में फंसे लोग अपने उद्धारके लिये अन्त में ज्ञानमार्ग की शरण लेते हैं।

११. आवृत्ति और अनावृत्ति।

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम अध्यायमें यज्ञादि कर्मकाण्ड द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त हुए पुरुषों के पुनः इस पृथ्वीपर लौटनेको श्रीकृष्णने बडे सुन्दर शब्दोंमें चित्रित किया है:–

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते

इन श्लोकों का अभिप्राय स्पष्ट है। किस मार्ग का अवलम्बन करने से मनुष्य इस मर्त्यलोक में पुनः आते हैं और किस का अवलम्बन करने से नहीं? इस प्रश्न का उत्तर सरल शब्दों में यही है, जो गीतामें कहा है-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।

अर्थात् भगवान् को प्राप्त करके इस लोकमें लौटना नहीं होता। हो भी क्यों जब लौटने का कोई हेतु ही नहीं रहता। आवृत्ति और अनावृत्ति का यह विषय भगवान् कृष्ण के संगीत में एक विचित्र, मनोरम तथा अर्थवान् रूप में प्रगट हुआ है:—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णःषण्मासा दक्षिणायनम्
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः।

भगवान् कहते हैं कि, मैं उस काल को बतलाता हूं, जिस में मरने से मनुष्य फिर यहां लौट कर नहीं आता और उस कालको भी जिस में मरने से यहां लौट कर आता है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, पहले छः महीने, उत्तरायण सूर्य यह वह काल है, जिस में मरनेवाले ब्रह्मविद् अर्थात् आत्मज्ञ होते हैं और इसलिये ब्रह्म या आत्मा को प्राप्त करते हैं। अतः उनका पुनरावर्तन नहीं हो सकता। इस के विपरीत धुंआ, रात, कृष्णपक्ष, वर्ष के पिछले ६ महीने, तथा दक्षिणायन सूर्य- यह ऐसा काल है, जिसमें प्रयाण करनेवाले योगी पुनः वापिस आते हैं।

१२. उत्तरायण या ज्ञानमार्ग से ही सद्गति क्यों?

गीता की इस विवेचनासे सिद्ध होता है कि, उत्तरायणमें प्रयाण करने से मुक्ति या शुभ गति होती है। उत्तरायण हम पहले कह चुके हैं कि, वीर्य की ऊर्ध्वगतिका नाम है। ऊर्ध्वरेता की ज्ञानाग्नि वीर्यरूप घृत से प्रदीप्त होकर ब्रह्म का प्रकाश करती है। अग्निहोत्र करते हुए हम प्रति दिन 'सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन' इस श्रुति-वाक्य का उच्चारण करते हैं। यहां भी वस्तुतः आत्माग्नि में वीर्यरूप घृत की आहुति देना ही आध्यात्मिक अभिप्राय है। आत्मा या ब्रह्म की उपलब्धि होनेपर जीव उसी में रम जाता है, फिर वह यहां लौटकर क्यों आने लगा- अपना असली स्वरूप ही जो उसे मिल गया। दूसरी तरफ जिसने कर्मकाण्डद्वारा विभिन्न एषणाओं को सिद्ध करने में अपना जीवन व्यतीत किया, इच्छाओंके कभी भी पूर्ण न हो सकने के कारण वह अपनी नीयतसे फिर इसी लोक में लौटेगा। शास्त्र में कहा भी है-

'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।'

इस मार्ग में यज्ञ एक सुहावनी चीज मालूम होती है, किन्तु यह यज्ञ भी ज्ञानयज्ञ न होकर द्रव्ययज्ञ है और काम्य होने से अन्ततः त्याज्य ही है। शतपथ ब्राह्मण में ऐसे यज्ञ को सन्तान उत्पन्न करने की विधिके रूप में चित्रित किया है, वहां कहा है कि स्त्रीयोनि वेदि है, इसके चारों ओर विद्यमान बाल ऋत्विजों के आसन हैं, प्रविष्ट होनेवाला पुरुषाङ्ग समिद्धाग्नि है... इत्यादि। इस प्रकार यज्ञ का उद्देश्य भी सन्तान होने से यह काम्य कर्म ही है, अतः इससे पितृलोक की प्राप्ति हो सकती है, ब्रह्मलोक या देवलोक की नहीं। पितृयान अथवा दक्षिणायनमार्ग में किन वस्तुओं की कामना की जाती है, यह अथर्वके निम्न-लिखित मन्त्र में पितरों के प्रति की गई प्रार्थना से विदित हो सकता है—

आयात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः
पितृयाणैः। आयुरस्मभ्यं दधत प्रजां च
रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्।

इस मन्त्रमें पितरोंसे आयु, सन्तान ऐश्वर्य और पुष्टिकी अभ्यर्थना की गई है। ये पदार्थ हैं, जिनकी प्राप्ति के लिये पितृयान पर आरूढ व्यक्ति अपने जीवन को खपा देता है। इन पदार्थों से सांसारिक सुखसमृद्धि अवश्य हो सकती है, लेकिन इस सुखसमृद्धिमें आसक्त हो जानेपर मनुष्य की वृत्ति आत्माभिमुख नहीं रहती।

१३. मरते समय ही ज्ञानमार्गी होना क्यों आवश्यक है ?

शास्त्रों में उत्तरायण में मरने से सद्गति लिखी है— **अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। प्रयाणकाले मनसाचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।**

इन श्लोकों का सारांश यह है कि मरते समय ब्रह्म का ध्यान करते हुए पुरुष को परमपद अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति होती है। परन्तु क्या मरते समय ही उत्तरायण या ब्रह्माभिमुख होने की आवश्यकता है, आयुके अन्य समयों में दक्षिणायन अथवा भोगवृत्ति से भी काम चल सकता है? 'ब्रह्मचर्य' शब्दका सरल अर्थ 'ब्रह्म परमपदं तत्प्राप्त्ये यद्व्रतं तदपि ब्रह्म तस्य चरणम् आचरणम्' अर्थात् 'ब्रह्मप्राप्ति के लिये किया हुआ व्रत' यह है। इस व्रतमें वीर्यरक्षा अनिवार्य है। इसीलिये कालान्तर में ब्रह्मचर्य शब्द से वीर्य रक्षा का ही बोध होने लगा। परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये जीवन की समस्त अवधि में जितनी अधिक ब्रह्मचर्य की साधना होगी, उतना ही इष्ट सिद्धि में उपकारक होगा। यही बात उत्तरायण के विषय में भी होनी चाहिये। हम सिद्ध कर चुके हैं कि, उत्तरायण ऊर्ध्वरेता या ब्रह्मचारी होने का ही दूसरा नाम है। मरते समय ही क्यों? सदा मनुष्य को ऊर्ध्वरेता होना चाहिये। अतएव मरणकाल को जो विशेष महत्त्व दिया गया है, उसका कुछ कारण कहना चाहिये।

१४. मृत्युकाल में मनुष्य का स्वभाव प्रगट होता है।

इस प्रश्न का एक समाधान तो यह है कि, जो व्यक्ति जीवनभर उत्तरायण व्रत को निभाता रहा होगा, वही मृत्यु के समय ब्रह्मका स्मरण करेगा। मृत्युकाल एक ऐसा समय है, जब मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां बहुत स्पष्ट और अनिवार्य रूप में अभिव्यक्त हो जाती हैं। हरिद्वार में एक आजन्म ब्रह्मचारी और प्रसिद्ध संन्यासी थे, जिन्होंने मरते समय जलेबी और बालूशाही को याद किया। इससे यही प्रतीत हुआ कि वे अपनी सारी जिंदगी में जिह्वालौल्यपर विजय न पा सके। सामान्यतः देखने से लोग बेशक उन्हें अन्तर्मुख समझते रहे, लेकिन वस्तुतः उनकी वृत्ति बहिर्मुख थी। उन्होंने अपनी तृष्णाओं को दबाया जरूर था, किन्तु निर्मूल नहीं किया था। वर्त्तमान मनोविज्ञानके पारिभाषिक शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि, उन की तृष्णाएं उनकी अधचेतना [Sub-conscious mind] में पड़ी हुई थीं, ज्यों मरने से पूर्व प्रधान चेतना [Conscious mind] में आ गई। इस अवस्थामें यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि, मृत्युकाल में मनुष्य अपने वास्तविक रूपमें प्रगट होता है।

१५. मृत्युकालके विचार अगली योनिके निर्णायक हैं।

पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य में ऐसा निर्देश उपलब्ध होता है कि, मरणकालमें इस जन्मके और पिछले जन्मोंके न भोगे हुए कर्म एकत्रित होते हैं और वे मिलकर अपना एक साधारण फल उत्पन्न करते हैं, जो मरनेके बाद मिलनेवाली योनि के रूपमें होता है। मरते समय जो भाव या विचार जीवके होते हैं, वे उस वक्त उसकी चेतना के प्रधान भाग को घेरे हुए होते हैं, अतएव मरण के पश्चात् कौनसी नई योनि मिले, इसके निर्णय में उन का जबर्दस्त हाथ होता है। इस स्थितिको दृष्टिमें रखते हुए गीता का—

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः।'

यह श्लोक समझ में आ सकता है। शरीर छूटते समय मनुष्य के जैसे विचार होते हैं, उन्हीं के अनुसार उसकी गति होती है। जिस के विचार ईश्वर की ओर हैं, जो मरते समय उसी का स्मरण करता है, अपने से उत्तर या उत्कृष्ट ब्रह्म की ओर जिस का अयन अथवा गमन है, उसे निश्चय ही मोक्षद्वारा आत्मस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होगी। दूसरी ओर जो व्यक्ति ज्ञानमार्ग छोडकर अपने से निकृष्टतर प्रकृति के भोगविलास में लीन रहता है, अपने जीवनरस [वीर्य] को नीचे बहाता है और पुत्रपौत्रादिद्वारा ही अमर होने की आकाङ्क्षा रखता है, उस की दुर्गति

अवश्यंभावी है। उत्तरायण में ब्रह्मकी प्राप्ति होने से सद्गति है। दक्षिणायन में मरने से पुनः पुनः इस संसारचक्र में आना पडता है, इसलिये इसमें सद्गति न होकर दुर्गति है।

१६. भीष्मने उत्तरायणकी प्रतीक्षा क्यों की?

इस प्रकरण में यह विचार करना भी न्याय्य होगा कि, मरते समय क्या भीष्म की अवस्था दक्षिणायन थी, जो उसे उत्तरायण की प्रतीक्षा करनी पडी। दूसरे शब्दों में क्या भीष्म जैसा त्यागी, तपस्वी और आजन्म ब्रह्मचारी व्यक्ति अज्ञान और भोगवाद में फंसा हुआ था! इस का उत्तर यह है कि भीष्म में यद्यपि अनेक गुण थे, तथापि यह मानना पडेगा कि, अपने अन्तिम जीवन में उस की वृत्ति सांसारिक हो चुकी थी, वह योगमार्ग छोडकर दुनियाके मिथ्या व्यवहार में फंसा हुआ था, अन्यथा वह दुर्योधन के धर्मरहित पक्ष का पोषण क्यों करता? भीष्म को अन्तमें धनकी चिंता बहुत रहती थी। दुर्योधनने उसे किसी ऊंचे वेतनपर नियुक्त किया हुआ होगा। महाभारत युद्ध आरम्भ होने से पूर्व युधिष्ठिर आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये अपने बुजुर्गोंके पास गया, तब भीष्म पितामहने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—

प्रीतोऽस्मि पुत्र युद्धयस्व जयमाप्नुहि पाण्डव
यत्तेभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे।

हे पुत्र युधिष्ठिर! मैं तुझसे प्रसन्न हूं, तू युद्ध कर और विजय को प्राप्त कर; युद्ध में और जो कुछ तू चाहता हो, वह भी तू प्राप्त कर। इस आशीर्वाद के पश्चात् भीष्म यह आशङ्का करता हुआ कि, कहीं युधिष्ठिर यह न सोचता हो कि, इन्होंने मेरे सच्चे और धर्मयुक्त पक्षका ग्रहण क्यों नहीं किया-उत्तर देता है—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्
इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः।

मनुष्य धन का दास है, धन किसी का दास नहीं, इसी नियमके आधारपर हे महाराज युधिष्ठिर, यह बिलकुल सच है कि मैं धन के कारण कौरवोंके साथ बंधा हुआ हूं- अर्थात् कौरव मुझे बहुतसा धन देते हैं, इसलिये मैं उन्हीं की ओरसे लड रहा हूं- नमकहराम मैं कैसे हो सकता हूं?

यह श्लोक महाभारतके भीष्मपर्वके आरम्भ में ही आता है। युद्ध से पूर्व भीष्म की जो मानस अवस्था थी, उस का इस में हुबहू चित्रण है। इस से यह सिद्ध होता है कि, भीष्म ईश्वरचिंतन छोडकर धन और ऐश्वर्यको अपना ध्येय समझने लग गया था। मरते समय उसने अपनी इस अवस्था को पहचाना, जैसा कि हुआ ही करता है। जब आदमी इस संसार से कूच करने लगता है, तो उस के स्मृतिपट पर जीवनभर के समस्त पाप अङ्कित हो जाते हैं, और वह उन का प्रायश्चित्त करना चाहता है। वह रोता है कि क्यों मैंने परमात्मचिंतन द्वारा मैंने अपने जीवन को सार्थक बनाया। योगी और आत्मज्ञानी लोग निश्चित एवं प्रसन्न होकर देहत्याग करते हैं।

पं० शिवदत्त काव्यतीर्थने अपने 'गद्यमहाभारतम्' में भीष्मके शिथिल होनेके पश्चात् की घटना का वर्णन इस प्रकार किया है-

'भीष्म त्वं स्वच्छंदमरणोसि। तस्माद् योगम् आस्थाय उत्तरायणकालं प्रतीक्षस्वेति अशरीरिर्णीवाक् प्रादुर्बभूव। एतदाकर्ण्य देवव्रतो महायोगमासाद्य परमात्मचिंतनमकरोत्।'

उस समय दिव्य वाणी सुनाई दी- 'हे भीष्म! तुझे इच्छामृत्यु का वरदान है, तेरी मृत्यु तेरी इच्छा के बिना नहीं हो सकती, इसलिये योग का अवलम्बन करके उत्तरायण काल की प्रतीक्षा कर।' इस दिव्य वाणीको सुनकर देवव्रत भीष्म महायोग का आश्रय लेकर परमात्माका चिंतन करने लगा।

भीष्म योग अथवा अन्तर्मुख वृत्ति से विमुख था, उस की शक्ति ज्ञान के स्रोत आत्मामें केंद्रित नहीं थी, इसलिये यह आवश्यक हुआ कि सद्गति प्राप्त करने के लिये वह उत्तरायण की प्रतीक्षा करे- अर्थात् अपनी शक्तिको उत्तर- अपने से उत्कृष्ट परमात्मा की ओर प्रवाहित करे। भीष्म की उत्तरायण प्रतीक्षा का यही रहस्य है।

१७. उत्तरसे उत्तमतक पहुंचें।

अन्त में हम अपने लेखको वेद की इस प्रार्थना के साथ समाप्त करते हैं-

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यंत उत्तरम्
देवं देवत्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

ऊपर खडे होकर अन्धकार से परे हम उत्कृष्ट ज्योति-वाले सूर्य को देखें और फिर देवों के बीच में विराजमान सूर्यों के भी सूर्य उत्तम ज्योतिवाले व्यापक ब्रह्म की ओर अयन (गमन) करें।

गायत्रीमंत्र का अर्थ और माहात्म्य।

[ले० श्री० पं० प्रभुदेव शर्मा, शास्त्राचार्य, साहित्यभूषण, स्वाध्याय-मण्डल, औंध]

हम में से ऐसे बहुत लोग हैं, जो ज्ञान-चर्चा को एक व्यर्थवाद समझते हैं। उन की दृष्टि में रोटी सब कुछ है। पर संसार के सब लोगों की न शक्तियां समान हैं, न बल-बुद्धि, न आवश्यकताएँ। जिन को रोटी की आवश्यकता है, वे रोटी भले ही खाएँ पर प्यासे को पानी पीने से रोकना बुद्धिमत्ता नहीं। वैसे ही जिन के पास धन नहीं है, या जिनकी प्रवृत्ति धन कमाने की ओर है, वे धन प्रसन्नता से कमाएँ, पर जिन के पास धन है, अथवा जो धन-हीन होकर भी ज्ञानार्जन के लिये उत्सुक हैं, उन्हें तो ज्ञान ही शांति दे सकता है। संसार में ज्ञान के ग्राहक हैं और वे इस के लिये अपना अमूल्य जीवन तथा सम्पत्ति भी बेंच देते हैं। तब, ज्ञानका महत्त्व अन्य आवश्यकताओं से किसी प्रकार न्यून है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवान् जिसने हमारी जीवन-यात्रा की सामग्री हमें दी है, वेदों का निर्माता और दाता है। वेद कितने हैं, वे एक समय में उत्पन्न हुए या भिन्न भिन्न कालों में, वे ऋषियों की निर्मिति हैं या ईश्वर की, उनका विषय इतिहास है अथवा सृष्टि के तत्त्वों की व्याख्या हम इस लेख में इन विषयों पर विचार नहीं करेंगे। जब हम देखते हैं, हमारे नित्य उपयोग में आनेवाले वस्तुओं और क्रियाओं, यथा मांसाहार भोजन है, या नहीं, मदिरा पेय है, या नहीं, जल भोजनके आदि, मध्य या अन्त में पीना चाहिये, इत्यादि में भी बड़े बड़े आचार्यों का मत-भेद है, तो ईश्वर, सृष्टि-रचना और वेद सम्बन्धी मत-भेद हमें आश्चर्य-कारक नहीं प्रतीत होता।

वेद के अमूल्य कोष में असंख्य रत्न निहित हैं। कोई रत्न किसी के लिये आकर्षक, तो दूसरे के लिए तुच्छ है। दूसरे के लिए कोई आकर्षक तो अन्यों की दृष्टि में तुच्छ। सब अपनी अपनी भावना, रुचि और आवश्यकता के अनुसार चुनाव करते हैं। यद्यपि वेद में अनेक मंत्र हैं, जो गायत्री से भी अधिक महत्त्व रखते हैं, अनेक गायत्री छन्दवाले मंत्र भी हैं, पर यह आश्चर्य की बात है कि, इतने प्राचीन-काल से इसी एक गायत्रीछन्दस्क मंत्र को इतना महत्त्व प्राप्त हो रहा है।

छन्दों में गायत्रीछन्द।

श्रेष्ठ है ऐसा ब्राह्मण-ग्रंथ कहते हैं। यथा—

१ एते वाव छन्दसां वीर्यवत्-तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च ॥ तां० २०।१६।८ ॥

छन्दों में गायत्री और त्रिष्टुप् अधिक वीर्यवान् हैं।

२ यातयामान्यन्यानि छन्दांसि-अयातयामा गायत्री ॥ तां० १३।१०।१ ॥

अन्य छन्द सार-हीन, पुराने हो गये, गायत्री अभी नयी है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ अन्य छन्दों को भी कम महत्त्व नहीं देते, जैसे गायत्री के साथ त्रिष्टुप् को भी वीर्यवान् बताया है, तथापि इससे गायत्री का महत्त्व मान लिया गया है।

गायत्री छन्दों में ब्राह्मण है।

ऐसा ब्राह्मणग्रन्थ में कहा है। यथा—

१ ब्रह्म गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप् ॥ श० १।३।५।५ ॥

२ क्षत्रं त्रिष्टुप् ॥ श० ३।४।१।१० ॥

गायत्री को महत्त्व मिलने का यह भी एक कारण हो सकता है।

सावित्री का महत्त्व।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है। शतपथ के चौदहवें काण्ड में महत्त्वप्राप्ति के लिये मन्थ की रचना बताई गई है। वहाँ मन्थ के आचमन का यों निर्देश है—

अथैनमाचामति। तत्सवितुर्वरेण्यं। मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा ॥ ११ ॥ भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा ॥ १२ ॥ धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पति-

मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहा । इति सर्वां च साविश्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीः सर्वाश्च व्याहृतीरहमेवेदं सर्वं भूयासम् । भूर्भुवः स्वः स्वाहा, इत्यन्तत आचम्य प्रक्षाल्य पाणी जघनेनाग्निं प्राक्-शिराः संविशति ॥ (श० १४।९।३।११, १२, १३)

जिसे हम गायत्री-मंत्र कहते हैं वह खण्डशः सम्पूर्ण यहां आ गया है। गायत्री का साविश्री नाम-करण भी यहां किया गया है। ब्राह्मणकार ने एक ही गायत्री गायत्री के तीन पादों के साथ तीन पूरे मंत्र और तीन व्याहृतियों को जोडकर इस मंत्र की महत्ता द्योतन की है। यहाँ से यह मंत्र मनुस्मृतिमें गया। गृह्यसूत्रों ने भी इसे अपनाया। अब यह मंत्र हमारे शास्त्रों और जीवन की प्रत्येक क्रिया में ओत-प्रोत हो गया है। यह हमारे संगठन-सूत्र का आधार माना जाता है। जनता में वेद के जितने मंत्र आ गये हैं, उनमें अधिक लोगों तक पहुँचने का सौभाग्य इस मंत्र को है।

इस मंत्र का छन्द **गायत्री** है, देवता **सविता** है, इसी कारण इसे **गायत्री** वा **सावित्री** कहते हैं। मंत्र होने से इसे **ब्रह्म** कहते हैं। ब्राह्मणों ने इसे **ब्राह्मणवर्ण** कहा है, अतः यह **ब्रह्म-गायत्री** भी कहलाती है। उपनयन-काल में आचार्य शिष्य के लिये इस मंत्र का उपदेश करता है, अतः यह **गुह्य-मंत्र** भी कहा जाता है। इसके

जप का अधिकार।

केवल ब्राह्मण को है। कहीं कहीं द्विज-मात्र के लिये कहा गया है। स्त्री शूद्रों का अधिकार इसके जापमें नहीं ऐसा हमारे धर्म-शास्त्री कहते हैं। पर ये वाद जिन युक्तियों पर अवलम्बित हैं वे परस्पर विरोधी हैं। पारस्कर तीनों वर्णों के लिये तीन मंत्रों का विधान करके अन्त में कहते हैं—

षडहे त्र्यहे सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेस्त्रैष्टुभं राजन्यस्य जगती वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥
(पार० उपनय० समिदा०)

अथवा सब को गायत्री का ही उपदेश करे। यदि गायत्री का वर्ण ब्राह्मण है, इस लिये यह ब्राह्मणों के लिये निश्चित हो चुकी है, तो फिर तीनों वर्णोंको उपदेश करने का क्या अर्थ ? अब आइये स्त्री-शूद्रों के अधिकारानधिकार पर। इनके यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होते, अतः इनको गायत्रीपाठ का अधिकार नहीं। पर शास्त्र दोनों के उपनयन का अधिकार मानते हैं। पारस्कर की टीका में '**शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनं**' ऐसा स्वीकार किया गया है और-

पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जी-बन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां साविश्री-वाचनं तथा ॥

इत्यादि प्रमाणों से इन स्त्रियों का भी उपनयन सिद्ध है। यह मंत्र परमेश्वर ने जन-हित के लिये प्रकाशित किया है, अतः अन्य कोई युक्ति बाधक न होने से इसके जपने और अर्थ विचारने का अधिकार मनुष्यमात्र को है।

कई सज्जनों का विचार है मंत्र अनर्थक हैं, निरुक्तकारने इस पर कौत्स का नाम लिखा है। आज भी बहुसंख्या मंत्रों के अर्थ पर आस्था नहीं रखती। उनका विश्वास है मंत्र के बल से देवता आकर्षित होते हैं और वे अभीष्ट फल प्रदान करते हैं, पर महाभाष्यकार पतंजलि मुनि और निरुक्तप्रणेता यास्क का मत इन से भिन्न है। यथा-

१. **दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेंद्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥** [महा०]

२. **स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥**
[निरु० १।१७]

अर्थात् स्वर या वर्ण से दुष्ट शब्द उस अर्थ को नहीं कहता और परिणाम भी विपरीत कर देता है, जैसा स्वरदोष के कारण इन्द्रशत्रु शब्द ने त्वष्टा के आशय-विरुद्ध फल उत्पन्न किया। यहां अर्थ जानने का निर्देश स्पष्ट है।

२. जो वेद का अर्थ नहीं जानता, वह वेद का भार ढोता है, अर्थ जाननेवाला इस जन्म में सब सुख भोग कर पश्चात् मुक्त हो जाता है।

मीमांसा कर्म-काण्ड की व्याख्या करता है। मीमांसक यज्ञ से मुक्ति मानते हैं। कई लोग समझते हैं, मीमांसक कोई ईश्वर नहीं मानते। प्रत्यक्षरूप से चाहे यह बात सत्य

हो पर वास्तव नहीं। यह सभी जानते हैं कि, यज्ञ के देवता इन्द्र, अग्नि इत्यादि हैं। मीमांसक इन्हें मानते हैं। तो क्या वे इन नामों से ईश्वर की पूजा और सत्ता स्वीकार नहीं कर रहे? वेद ईश्वर को अग्नि, इन्द्र, विष्णु नामों से ही तो पुकारता है। मीमांसक देवता की सत्ता मानते हैं, पर वे मन्त्र का उपयोग अर्थस्मरण के लिये समझते हैं यथा–

अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणम्।.. यज्ञे यज्ञाङ्गप्रकाशनमेव प्रयोजनम्। न ह्यप्रकाशिते यज्ञे यज्ञांगे च यागः शक्योऽभिनिर्वर्तयितुम्॥ (मीमां० १।२।३२ पर श० भा०)

यज्ञ में अर्थप्रकाशनार्थ ही मन्त्र प्रयुक्त होते हैं। वे यज्ञाङ्गों का प्रकाश करते हैं। अब आप सोच सकते हैं कि, वेद का कोई अर्थ है वा नहीं? वेद मंत्रों का अर्थ है और वेदार्थ न जानने से ही मनुष्य-जीवन की सारी क्रियाएं उलटी हो गई हैं।

वेदार्थ की शैली।

मुझ से कोई पूछे कि, वृक्ष बनाने के कितने प्रयोजन हैं, तो मैं उत्तर दूँगा असंख्य। लोग इसे मेरी भूल समझेंगे। मैं भूला ही सही पर बात ठीक है। वृक्ष का फल खाते हैं, उस की छाया में विश्राम पाते हैं। उस पर चढ कर दूर के वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, हिंसक जन्तुओं से प्राण बचाते हैं। वर्षा का निवारण करते हैं। आंधी के समय आश्रय लेते हैं। कृमि-कीट अपना घर बनाते हैं। पक्षी घोंसला सजाते हैं। उसकी पत्ती चबाते हैं, पशुओं को खिलाते हैं। पत्ती, फूल, फल यहां तक कि, छाल भी सैकडों रोगों में, काम में लाते हैं। उस की लकडी खाट, हल, पलंग आदि अनेक कामोंमें उपयोगी होती है। क्या मेरा यह कथन असत्य है?

मेरा वेद भी अनेक कार्य-साधक है। उस के अनन्त अर्थ हैं। मनुष्य की योग्यता पर निर्भर है, मनुष्य एक ही मंत्र का अच्छा या बुरा अर्थ कर सकता है। जिस अन्न से बल-वीर्य प्राप्त होता है, व्यसनी लोग उसी अन्न से मदिरा बनाते हैं। यदि कोई वेदमंत्रों का अश्लील अर्थ करता है, तो यह वेद का अपराध नहीं। वेद के अच्छे से अच्छे और अनेक अर्थ हो सकते हैं। ऋषियोंने ब्राह्मण-निरुक्तादि ग्रन्थों में इसी शैली का अनुकरण किया है।

गुरु-मंत्र।

[ओ३म्। भूर्भुवः स्वः॥] तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ [ऋ० ३।६२।१०]

इस मंत्र में ओ३म् भूर्भुवः स्वः इतने पद ऋषियोंने जोडे हैं। मुख्य गायत्री मन्त्र 'तत्सवितुः' से आरम्भ होता है। यहाँ कुछ ज्ञातव्य बातें जानबूझकर छोड रहा हूँ, क्योंकि भूमिका कलेवर बहुत बढ चुका है। गायत्री-मंत्र का सामान्य अर्थ यह है–

हम (सवितुः देवस्य) सवितादेव के (तत्) उस (वरेण्यं भर्गः) श्रेष्ठ, वरणीय तेज को (धीमहि) धारण करते हैं। (यः) जो सवितृ देव (नः धियः) हमारी बुद्धिको (प्रचोदयात्) प्रेरणा दे, प्रेरित करे।

हम सब से पहले सूर्य को लेते हैं और उसकी प्रेरणा पर विचार करते हैं।

सूर्य।

सविता है। सूर्य जब उदयावस्था में आने लगता है, प्रकाश की मात्रा बढ जाती है। हम समझते हैं रात्रि काल में प्रकाश नहीं होता, पर यह हमारा भ्रम है। प्रकाश होता है, पर उतनी मात्रामें नहीं जितनी मात्रा पशु, पक्षी और मनुष्योंको चाहिये। सूर्य अपने प्रकाशसे उस मात्रा की वृद्धि करता है। प्रकाशाभावसे संसार का सारा व्यवहार रुका पडा था। सूर्योदय होते ही सारे पक्षी कल-कल करने लगे, गायें हिंकारने लगीं। लीजिये मनुष्यों के शब्द भी सुनाई पडने लगे। सब लोग पूर्ववत् अपने अपने व्यापार में प्रवृत्त हो गये। यह सब कैसे हो गया? सूर्य की प्रेरणा ही से तो!

हम छोटे छोटे पौदोंको देखते हैं। वे दिन भर सूर्यका भर्ग धारण करते हैं। यह तेज ही उन के शरीर में रस को दौडाता है। वे सर्वांग में तेज पाकर भरपूर बढते हैं। अच्छा, उन्हें एक मास छाया में रखिये, प्रकाश का स्पर्श न होने दीजिये। ओहो! वे पीले पड गये, उन के शरीर की कोमलता और कालिमा कौन छीन ले गया? वे सविता के भर्ग से वञ्चित हो गये। इसी कारण (धियः)

उनकी क्रिया-शक्ति क्षीण हो गई। अच्छा, उन्हें अब प्रकाश में रखिये। अब उन में जीवन आ रहा है। वे हरे-भरे और प्यारे दिखाई देते हैं। हम सूर्य के बिना जीवित नहीं रह सकते। जो लोग प्रकाशसे कम प्रेम करते हैं, वे अधिकतर व्याधिग्रस्त रहते हैं। इसीलिये वेद '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** ॥ ऋ. १।११५।१॥ सूर्य को चर और अचर का आत्मा बताता है। सूर्य का एक नाम शुष्ण है। सूर्य, जल, वायु सारे विश्वका शोधक है। वह सब के भीतर और बाहर कर (किरण, हाथ) डाल कर माँजता है, इसलिये मार्जालीय है। गायत्री-मंत्र हमें इस देव की ओर देखने का निर्देश करता है। हम सूर्य को नमस्कार करके न रह जायँ, उस के सब अवयव पर विचार करें, तो अनेक हानियोंसे बच सकते हैं।

अग्नि।

सविता है। विद्युत् और बाष्प के युग में भी किसी को अग्नि के महत्त्व में सन्देह हो, तो उसे कोई नहीं समझा सकता। अग्नि जातवेदा है, 'जाते जाते विद्यते' कोई स्थान नहीं, जहाँ अग्नि का भर्ग (उष्णता) विद्यमान न हो। संसार की रचना में पृथिवी के परमाणुओं के मिलाने का काम जल करता है, जल के सुखाने का काम अग्नि। इस अग्नि का महत्त्व कुम्हार से पूछिये। वह घडे बना कर धूप द्वारा उन में अग्नि का अंश बढाता है, तब पार्थिव परमाणु सटकर कठोर बन जाते हैं। जब घडा पककर अपने भीतर अग्नि की मात्रा अधिक बढा लेता है। तब एक बार पत्थर की मार भी सह लेता है। पत्थर स्वयं अग्निको अपने भीतर छिपाये हुए हैं। तभी तो वेद कहता है, ' त्वमश्मनस्परि ' अग्नि अश्माके भीतर भी है। हम जिस अग्निका दर्शन कर रहे हैं, उसका भर्ग (भर्जन = पकानेवाली शक्ति) मिट्टी, पत्थर, पानी, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य सब में विद्यमान है। वही अग्नि सबका सविता=प्रेरक और उत्पादक बन कर सबके व्यवहारको आगे बढा रहा है। मनुष्य इस सवितासे पूरी प्रेरणा प्राप्त कर ले, तो सब दुःखों से मुक्त हो जाय।

आत्मा।

सविता है। हम आत्मा के विषय में बहुत कम ध्यान देते हैं। आत्मा का तेज शरीरके सब अंगोंमें विद्यमान है। प्राण, मन, इंद्रिय और रक्तवाहिनी नाडियें इस के वरेण्य भर्ग को धारण कर रही हैं। प्राणकी गति गिनिये, इंद्रियगण की चपलता का अनुमान कीजिये और मन की वेगवत्ता पर थोडा ठहर जाइये। वेद मन के दुरगामित्व पर कहता है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसं-कल्पमस्तु ॥ य० ३४।१ ॥

वह मन न जागरित अवस्था में ठहरता है, न स्वप्न में चैन लेता है और मनुष्यादि प्राणी को दिन-रात बेचैन किये रहता है। ' जैसा पशु वैसा खूंटा ' के अनुसार इस मन का प्रेरक भी वैसा ही तीव्रगामी होना चाहिये। इस मन का स्वामी आत्मा है, जो इससे अविराम कार्य कराये जा रहा है। सोचिये तो इस सविता की शक्ति कितनी बडी है, जो मनको भी अविराम चलाती रहती है, जब तक वह थक कर स्वयं न सो जाय। इस आत्मा से भी बडा सविता।

परमात्मा।

है। इस सविताको ओम् कहते हैं, वह सब का अविता है। इसे भूः कहते हैं। यह हमारी सत्ता, हमारे प्राण का रक्षक है, इसे भुवः कहते हैं, यह ज्ञानदाता और दुःख-हर्ता है। इसे स्वः कहते हैं। यह स्वयंप्रकाश और सुख-स्वरूप है। आश्चर्य है कि, बडे बडे मदोन्मत्त वैज्ञानिक अभी तक इसकी इस छोटी सृष्टि की भी थाह न लगा सके, फिर भी वे कहते हैं इस सृष्टिका रचयिता कोई नहीं। इनको कौन समझाए, इन्हें कौन बताये? मनुष्य अपने शरीर के श्वास-प्रश्वास से अपना जीवन अनुमान करता है, पर जो पिता अपने विश्वगर्भ में सब का धारण और पालन कर रहा है उससे मुख मोड रहा है। यही सविता हमारी माता है, यही हमारा पिता है। हम इसे अपने हृदय में उपास्य देव के रूप में, चेतन रूप में धारण कर सकते हैं। इसकी उपासना सूर्य, अग्नि और आत्मा से भिन्न है। यह गुरुवत् उपास्य है। हम उसे नहीं देखते, पर वह हमें देखता है।

उसने वायु की रचना की है। वह वायु हमारे प्राण का भोजन है। उसने जलकी रचनाकी है। हमारा शरीर उसे पीता है। उसने ओषधि (अन्न) की रचना की है, घास, फल-फूल बनाये हैं वे सब हमारे शरीर का भोजन हैं।

इस शरीर की वृद्धि के ये मुख्य कारण हैं। इसने सूर्य की रचना की है। यह सूर्य हमें प्रकाश और तेज देकर हमारा पोषण करता है, इसीलिये सूर्य को पूषा भी कहते हैं। जिस पृथिवी से हमारा शरीर बना है, उसका धारक-पोषक परमात्मा के अतिरिक्त और कौन है? आकाश में निराधार इसे कौन खड़ी किये हुए है? यह परमात्मा है। सृष्टि के सारे देव इसी प्रेरणा में चल रहे हैं। यही देवों का बल है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ० १।११५।१)

ओहो! विचित्र, देवों का बल निकल आया, यह मित्र, वरुण और अग्नि की भी आँख है। इसने द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष को भर लिया है। यह सूर्य (परमात्मा) चर और अचर का आत्मा है। जब योगी समाधिस्थ होता है, उस समय उसे इस दृश्यकी कल्पना होती है। विद्वान् भी इस परमात्मा को देख सकते हैं, विना योग-समाधि के देख सकते हैं, वेद कहता है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ (ऋ० १।२२।२०)

विद्वान् प्रभु के मुख्य स्थान को सदा इस प्रकार देखते हैं, जैसे आँख दिन में फैले हुए प्रकाश को।

हमें प्रभु की उपासना करनी चाहिये। उसकी उपासना का साधन है उसके भर्ग का हृदय में धारण। वह प्रभु आँख, कान आदि का विषय नहीं। वह धीमहि धारणा का विषय है, धारणा धी से होती है। जब मनुष्य उसे धारण करने का प्रयत्न करता है, परमात्मा उसकी बुद्धि में प्रेरणा देता है। वह हम से दूर नहीं है। हम अपनी बुद्धि जिधर ले जाना चाहते हैं, प्रभु उधर चला देता है। हम जब नाना विषयों में बुद्धि दौड़ाते हैं, तब वह हमें उधर लगाये रहता है। जब हम उसका तेज धारण करना चाहते हैं, वह हमें तेज की ओर ले जाता है। गीता में महाराज कृष्ण ने गायत्री के इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

वेद ने स्वयं गायत्री के इस आशय को इस मंत्र में अनुमोदित किया है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (ऋ० १०।१२१।२)

गायत्री का मुख्य उद्देश सविता का तेज प्राप्त करना है। यदि कोई कहे कि, हम उसका तेज नहीं देख सकते कैसे प्राप्त करें? गायत्री स्वयं कहती है मानव! तू प्रयत्न कर। तेरे हृदय में बैठा भगवान् तुझे वहाँ स्वयं पहुंचा देगा। तब तू वह वरेण्य सर्वोत्तम भर्ग-तेज, आनन्द धारण कर सकेगा।

बे-जबान हैवानों पर रहम। (उर्दू)

वेद का आदेश 'पशून् पाहि' पशुओं की रक्षा करना है, पर हमारे कुछ भाई ऐसे हैं, जो किसी विशेष उत्सव पर पशु-वध धर्म समझते हैं। इनमें गाय जैसे पशु की हत्या तो बहुत ही दुःखप्रद है। मान्य लेखकने कुरान, हदीस तथा कई मौलवी लोगों की सम्मति देकर सिद्ध किया है कि, पशु-वध या गाय की कुरबानी धर्म-विरुद्ध है। इसके लेखक श्रीमा० बाबू बनवारीलालजी अग्रवाल, आर्यसभासद, करनाल और सम्पादक आर्यजगत् के ख्यातनामा विद्वान् श्री० स्वा० वेदानन्दतीर्थजी महाराज हैं। पृ० ४८, मूल्य नहीं लिखा। पुस्तक विचार-पूर्ण है।

[पं० ऋभुदेवशर्मा, स्वा० मं० औन्ध]

(३५५) सुऽआयुधासः । इष्मिणः । सुऽनिष्काः । उत । स्वयम् । तन्वः । शुम्भमानाः ॥११॥
(३५६) शुची । वः । हव्या । मरुतः । शुचीनाम् । शुचिम् । हिनोमि । अध्वरम् । शुचिऽभ्यः ।
ऋतेन । सत्यम् । ऋतऽसापः । आयन् । शुचिऽजन्मानः । शुचयः । पावकाः ॥१२॥
(३५७) अंसेषु । आ । मरुतः । खादयः । वः । वक्षःऽसु । रुक्माः । उपऽशिश्रियाणाः ।
वि । विऽद्युतः । न । वृष्टिऽभिः । रुचानाः । अनु । स्वधाम् । आयुधैः । यच्छमानाः ॥१३॥

अन्वयः— ३५५ सु-आयुधासः इष्मिणः सु-निष्काः उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः। ३५६ (हे मरुतः! शुचीनां वः शुची हव्या, शुचिभ्यः शुचिं अध्वरं हिनोमि, ऋत-सापः शुचि-जन्मानः शुचयः पावकाः ऋतेन सत्यं आयन्। ३५७ (हे) मरुतः! वः अंसेषु खादयः आ, वक्षःसु रुक्माः उप-शिश्रियाणाः, विद्युतः न, रुचानाः वृष्टिभिः आयुधैः स्व-धां अनु यच्छमानाः।

अर्थ- ३५५ वे वीर (सु-आयुधासः) अच्छे हथियार समीप रखनेहारे, (इष्मिणः) वेगसे जानेहारे, (सु-निष्काः) सुन्दर मुहरोंके हार धारण करनेवाले (उत) और वे (स्वयं) अपनेही (तन्वः) शरीरोंको (शुम्भमानाः) सुशोभित करनेहारे हैं।

३५६ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (शुचीनां वः) पवित्र ऐसे तुम्हें (शुची हव्या) शुद्ध ही हविर्द्रव्य हम देते हैं, (शुचिभ्यः) विशुद्ध ऐसे तुम्हारे लिए (शुचिं अध्वरं) पवित्र यज्ञको ही (हिनोमि) मैं करता हूँ। (ऋत-सापः) सत्यकी उपासना करनेहारे, (शुचि-जन्मानः) विशुद्ध जन्मवाले, कुलीन (शुचयः) स्वयं पवित्र होते हुए दूसरोंको (पावकाः) पवित्र करनेवाले तुम (ऋतेन) सत्यकी सहायतासे (सत्यं) अमरपनको (आयन्) पाते हो।

३५७ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (वः अंसेषु) तुम्हारे कंधोंपर (खादयः आ) आभूषण तथा (वक्षःसु रुक्माः) छातीपर स्वर्णमुद्राओंके हार (उप-शिश्रियाणाः) लटकते रहते हैं। (विद्युतः न) बिजलियोंके तुल्य (रुचानाः) चमकनेवाले तुम (वृष्टिभिः आयुधैः) वर्षा करनेवाले हथियारोंकी सहायतासे (स्व-धां) धारकशक्ति बढानेवाला पुष्टिकारक अन्न हमें (अनु यच्छमानाः) देते रहो।

भावार्थ— ३५५ वीर सैनिकोंके हथियार अच्छे हैं और वे वेगसे हमला करनेवाले एवं धनाढ्य हैं। वे वस्त्रों एवं आभूषणोंसे अपने शरीर को सुशोभित करते हैं। ३५६ वीर पुरुष स्वयमेव विशुद्ध हैं और उनका बर्ताव निर्दोष है। वे शुद्ध अन्नका सेवन करते हैं और सत्यका पालन करते हैं। वे स्वयं पवित्र जीवन बिताते हुए दूसरों को पवित्र करते हैं। सत्यकी राहपर चलते हुए वे अमृतत्वको प्राप्त कर लेते हैं। ३५७ वीर सैनिकोंके कंधोंपर तथा वक्षस्थलोंपर आभूषण दीख पडते हैं। दामिनीकी दमकके तुल्य उनके हथियार चमक उठते हैं। इन अपने हथियारोंसे वे शत्रुदलकी धज्जियाँ उडा देते हैं और हमें पौष्टिक एवं श्रेष्ठ कोटिके अन्न दिया करते हैं।

टिप्पणी— [३५५] (१) निष्क = सुवर्ण, सोनेकी मुद्रा, स्वर्णका अलंकार। [तन्वः शुम्भमानाः उत सु-निष्काः] = ये वीर शारीरिक दृष्टया सुन्दर हैं और अलंकारोंसे भी शोभा एवं चारुताको बढाते हैं। इष्मिन् = इष्ट अन्न तथा धनसे युक्त। [३५६] (१) ऋत = (Right) सरलता। (२) सत्य = (Sooth) सत्य। (३) सप् = (समवाये) प्राप्त होना। (४) ऋत-सापः = (ऋत = सत्य; सप् = सम्मान देना, जोडना, पूजा करना) सत्यकी उपासना करनेवाले (Observers of law)। [३५७] (१) खादि = आभूषण, वलय, कँगन। (२) वृष्टि = (वृष् = बलवान होना) बल, वर्षा (किसी भी वस्तुकी यथेष्ट समृद्धि या विपुलता)। (३) रुचानाः = (रुच् = प्रकाशित होना, सुन्दर दीख पडना, प्रिय होना) प्रकाशमान।

(३५८) प्र । बुध्न्या । वः । ईरते । महांसि । प्र । नामानि । प्रऽयज्यवः । तिरध्वम् ।
सहस्रियम् । दम्यम् । भागम् । एतम् । गृहऽमेधीयम् । मरुतः । जुषध्वम् ॥१४॥
(३५९) यदि । स्तुतस्य । मरुतः । अधिऽइथ । इत्था । विप्रस्य । वाजिनः । हवीमन् ।
मक्षु । रायः । सुऽवीर्यस्य । दात । नु । चित् । यम् । अन्यः । आऽदभत् । अरावा ॥१५॥
(३६०) अत्यासः । न । ये । मरुतः । सुऽअश्वः । यक्षऽदृशः । न । शुभयन्त । मर्याः ।
ते । हर्म्येऽस्थाः । शिशवः । न । शुभ्राः । वत्सासः । न । प्रऽक्रीळिनः । पयःऽधाः ॥१६॥

अन्वयः— ३५८ (हे) प्र-यज्यवः मरुतः! वः बुध्न्या महांसि प्र ईरते, नामानि प्र तिरध्वं, एतं सहस्रियं दम्यं गृह-मेधीय भागं जुषध्वं। ३५९ (हे) मरुतः! वाजिनः विप्रस्य हवीमन् स्तुतस्य यदि इत्था अधीथ, सु-वीर्यस्य रायः मक्षु दात, अन्यः अ-रावा नु चित् यं आदभत्। ३६० ये मरुतः अत्यासः न सु-अश्वः, यक्ष-दृशः मर्याः न शुभयन्त, ते हर्म्येष्ठाः शिशवः न शुभ्राः, पयो-धाः वत्सासः न प्र-क्रीळिनः।

अर्थ- ३५८ हे (प्र-यज्यवः मरुतः!) पूज्य वीर मरुतो! (वः) तुम्हारे (बुध्न्या महांसि) मौलिक आन्तरीय सामर्थ्य तथा बल (प्र ईरते) प्रकट होते हैं। तुम अपने (नामानि) यशोंको (प्र तिरध्वं) पर तटको ले चलो, बढा दो। (एतं) इस (सहस्रियं) सहस्त्रावधि गुणोंसे युक्त (दम्यं) घरके (गृह-मेधीयं) गृहयज्ञके (भागं) विभागका तुम (जुषध्वं) सेवन करो।

३५९ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (वाजिनः) अन्नयुक्त (विप्रस्य) ज्ञानी पुरुषकी (हवीमन्) हविष्यान्न प्रदान करते समय की हुई (स्तुतस्य) स्तुतिको (यदि) अगर (इत्था) इस प्रकार तुम (अधीथ) जानते हो, तो (सु-वीर्यस्य) अच्छी वीरतासे युक्त (रायः) धन (मक्षु) तुरन्तही उसे (दात) दे दो। नहीं तो (अन्यः) दूसरा कोई (अ-रावा) शत्रु (नु चित्) सचमुचही (यं) उसे (आदभत्) विनष्ट कर डालेगा।

३६० (ये मरुतः) जो वीर मरुत् (अत्यासः न) घुडदौडके घोडोंके तुल्य (सु-अश्वः) उत्तम ढंगसे शीघ्रतया जानेवाले हैं, (यक्ष-दृशः) यज्ञका दर्शन लेने आये हुए (मर्याः न) लोगोंके तुल्य जो (शुभयन्त) अपने आपको शोभायमान करते हैं, (ते) वे वीर (हर्म्ये-ष्ठाः) राजप्रासादमें रहनेवाले (शिशवः न) बालकों के समान (शुभ्राः) सुहानेवाले हैं और (पयो-धाः वत्सासः न) दूधपर पले जानेवाले बालकों के समान (प्र-क्रीळिनः) अत्याधिक खिलाडीपनसे परिपूर्ण हैं।

भावार्थ- ३५८ वीरोंमें जो बल छिपे पडे हैं वे प्रकट हों और उनका यश दशदिशाओंमें प्रसृत हो। गृहयज्ञके समय उनके लिए दिये हुए भागका वे सेवन करें। ३५९ अन्नदान करते समय दानीकी प्रार्थनाको यदि ये वीर समझ लें, तो वे उसे तुरन्त शूरतासे पूर्ण धन दे डालें। अगर ऐसा न हुआ तो दूसरा कोई शत्रु उस सम्पत्तिको दबा बैठेगा।

३६० ये वीर सैनिक गतिमान, सुशोभित, सुन्दर तथा खिलाडी हैं।

टिप्पणी— [३५८] (१) प्र-तिर् = संकटोंके पार चले जाना, पैलतीर पहुँचना। (२) बुध्न्य = शरीर, आकाश, मौलिक, अपना, अंतर्यामी। (३) दमः-मं = घर, स्वानियन्त्रण, घरेलू बनाना, बुरे कर्मसे मनको परावृत्त करानेवाली शक्ति। दम्य = घरपर किया हुआ। (४) गृह-मेध = घरमें किया हुआ यज्ञ, गृहस्थका कर्तव्य यज्ञ, गृहस्थ। गृह-मेधीय = गृहस्थका दिया हुआ, घरके यज्ञका। [३५९] (१) अरावा = (अ-रावा) दान न देनेवाला कृपण, दुष्टात्मा (दुष्ट लोग, शत्रु)। (२) दभ् (दम्भ्) = दुखाना (नाश करना) ठगाना, जाना, दबाना। [३६०] (१) यक्ष = (यक्ष् पूजायां) पूजा, यज्ञ, यक्षजातिका वीर।

(३६१) दुशस्यन्तः । नः । मरुतः । मृळन्तु । वरिवस्यन्तः । रोदसी इति । सुमेके इति सुऽमेके ।
आरे । गोऽहा । नृऽहा । वधः । वः । अस्तु । सुम्नेभिः । अस्मे इति । वसवः । नमध्वम् ॥१७
(३६२) आ । वः । होता । जोहवीति । सत्तः । सत्राचीम् । रातिम् । मरुतः । गृणानः ।
यः । ईवतः । वृषणः । अस्ति । गोपाः । सः । अद्वयावी । हवते । वः । उक्थैः ॥१८
(३६३) इमे । तुरम् । मरुतः । रमयन्ति । इमे । सहः । सहसः । आ । नमन्ति ।
इमे । शंसम् । वनुष्यतः । नि । पान्ति । गुरु । द्वेषः । अररुषे । दधन्ति ॥१९॥

अन्वयः— ३६१ दशस्यन्तः सुमेके रोदसी वरिवस्यन्तः मरुतः नः मृळन्तु, (हे) वसवः ! गो-हा नृ-हा वः वधः आरे अस्तु, सुम्नेभिः अस्मे नमध्वं। ३६२ (हे) वृषणः मरुतः ! सत्तः सत्राचीं रातिं गृणानः होता वः आ जोहवीति, यः ईवतः गोपाः अस्ति सः अ-द्वयावी वः उक्थैः हवते। ३६३ इमे मरुत तुरं रमयन्ति, इमे सहः सहसः आ नमन्ति, इमे शंसं वनुष्यतः नि पान्ति, अररुषे गुरु द्वेषः दधन्ति।

अर्थ— ३६१ शत्रुओंका (दशस्यन्तः) विनाश करनेहारे तथा (सुमेके रोदसी) सुस्थिर द्यावापृथ्वीको (वरिवस्यन्तः) आश्रय देनेहारे (मरुतः) वीर मरुत् (नः मृळन्तु) हमें सुखी बना दें। हे (वसवः !) बसानेवाले वीरो ! (गो-हा) गोवध करनेहारा (नृ-हा) तथा शत्रुदलमें विद्यमान वीरोंको मार गिरानेवाला (वः वधः) तुम्हारा आयुध हमसे (आरे अस्तु) दूर रहे; तुम (सुम्नेभिः) अनेक सुखोंके साथ (अस्मे नमध्वं) हमारी ओर आनेके लिए निकल पडो। ३६२ हे (वृषणः मरुतः !) बलवान वीर मरुतो ! (सत्तः) अपने स्थानपर बैठा हुआ तथा (सत्रा-अर्ची) सभी जगह पहुँचनेवाले (रातिं) दानकी (गृणानः) स्तुति करनेहारा एवं (होता) बुलानेवाला याजक (वः आ जोहवीति) तुम्हें बुला रहा है, (यः) जो (ईवतः गोपाः) प्रगति करनेवालोंका संरक्षक (अस्ति) है, (सः) वह (अ-द्वयावी) अनन्यभावसे युक्त होकर (वः) तुम्हारी (उक्थैः) स्तोत्रोंसे (हवते) प्रार्थना करता है। ३६३ (इमे मरुतः) ये वीर मरुत् (तुरं) त्वराशील वीरोंको (रमयन्ति) आनन्द देते हैं। (इमे) ये अपनी (सहः) सहनशक्तिके सहारे (सहसः) विजयश्रीको (आ नमन्ति) झुकाते हैं, पाते हैं। (इमे) ये (शंसं) स्तोत्रका (वनुष्यतः) आदर करनेहारे भक्तोंकी (नि पान्ति) रक्षा करते हैं। (अररुषे) शत्रुओं पर अपना (गुरु द्वेषः) बडा भारी द्वेष (दधन्ति) करते हैं।

भावार्थ— ३६१ समूचे विश्वको सुख देनेहारे तथा शत्रुका नाश करनेवाले ये वीर हमें सुख दें। इनके जो हथियार शत्रुदलके संहारक हैं, वे हमपर न गिर पडें। उनके कारण हम मौतके मुँहमें न चले जायँ। हमें ये सभी प्रकारके सुख दे दें। ३६२ याजक इन वीरोंको यज्ञमें बुला लेता है और वह प्रगतिशील मानवोंका संरक्षण करता है। वह छल-कपटपूर्ण बर्ताव न करता हुआ वीरोंके काव्यका गायन करता है। ३६३ जो शीघ्र कर्म करते हैं, उन्हें वीर पुरुष आनन्दित करते हैं, अपने पौरुषसे विजयी बनते हैं, भक्तोंका संरक्षण करते हैं और शत्रुओं परही अपना सारा क्रोध डालते हैं।

टिप्पणी— [३६१] (१) सु-मेकः= सुस्थिर। (२) दशस्यन्तः= (दंश्= चबाचबाकर खाना, काट खाना, [नाश करना] विनाशक। (३) वरिवस्यन् = स्थान देनेहारा, विश्राम देनेवाला। वरिवस्= स्थान, विश्राम, सुख। [३६२] (१) सत्तः= (सद्= बैठना) स्थानापन्न हुआ, अपनी जगह बैठनेवाला। (२) रातिः= दान, उदार, मित्र, कृपा। (३) ईवत्= जानेवाला, (प्रगति करनेहारा) अत्यन्त बडा-भव्य। (४) अ-द्वयाविन्= द्विधा भाव जिसमें नहीं (अनन्यभावसे प्रेरित), अन्दर एक बाहर अन्यही कुछ यों आचरण न करनेवाला। (५) गो-पाः= गौका संरक्षक, संरक्षक। [३६३] (१) तुरः = वेगवान, शक्तिमान, अग्रगामी, प्रगतिशील, घायल, वेग। (२) सहस् = बल, वेग, तेज, जल, विजय। (३) नम् = झुकना, मुडना, (पाना) (४) वन् = (शब्दयाचनसंभक्तिषु) = सम्मान देना, पूजा

(३६४) इमे । रध्रम् । चित् । मरुतः । जुनन्ति ।
भृमिम् । चित् । यथा । वसवः । जुषन्त ।
अप । बाधध्वम् । वृषणः । तमांसि ।
धत्त । विश्वम् । तनयम् । तोकम् । अस्मे इति ॥२०॥

(३६५) मा । वः । दात्रात् । मरुतः । निः । अराम ।
मा । पश्चात् । दध्म । रथ्यः । विऽभागे ।
आ । नः । स्पार्हे । भजतन । वसव्ये ।
यत् । ईम् । सुऽजातम् । वृषणः । वः । अस्ति ॥२१॥

अन्वयः— ३६४ इमे वसवः मरुतः यथा रध्रं चित् जुनन्ति भृमिं चित् जुषन्त, (हे) वृषणः ! तमांसि अप बाधध्वं, अस्मे विश्वं तोकं तनयं धत्त ।

३६५ (हे) रथ्यः मरुतः ! वः दात्रात् मा निः अराम, वि-भागे पश्चात् मा दध्म, (हे) वृषणः ! वः सु-जातं यत् ईं अस्ति स्पार्हे वसव्ये नः आ भजतन ।

अर्थ- ३६४ (इमे) ये (वसवः) बसानेहारे (मरुतः) वीर मरुत् (यथा) जैसे (रध्रं चित्) समृद्धिशाली मानवके निकट (जुनन्ति) जाते हैं, उसी प्रकार (भृमिं चित्) भटकनेवाले भीखमँगेके समीप भी वे (जुषन्त) जाते रहते हैं; हे (वृषणः !) बलिष्ठ वीरो ! (तमांसि अप बाधध्वं) अँधेरे को दूर हटा दो और (अस्मे) हमारे लिए (विश्वं तनयं तोकं) सभी पुत्रपौत्रों-संतानों-को (धत्त) दे दो।

३६५ हे (रथ्यः मरुतः !) रथपर बैठनेवाले वीर मरुतो ! (वः) तुम्हारे (दात्रात्) दानके स्थानसे हम (मा निः अराम) बहुत दूर न रहें। (वि-भागे) धनका बँटवारा होते समय (पश्चात् मा दध्म) हमें सबके पीछे न रखो। हे (वृषणः !) बलिष्ठ वीरो ! (वः) तुम्हारा (सु-जातं) उच्चकोटिका (यत् ईं) जो कुछ धन (अस्ति) है, उस (स्पार्हे वसव्ये) स्पृहणीय धनमें (नः) हमें (आ भजतन) सब प्रकारसे अंशभागी करो।

भावार्थ- ३६४ वीर सैनिक जिस प्रकार धनाढ्योंका संरक्षण करते हैं, उसी प्रकार वे निर्धनोंकाभी संरक्षण करते हैं। वीरोंको उचित है कि वे जिधरभी चले जायँ उधर अँधियारी दूर करके सबको प्रकाशका मार्ग बतला दें। हमारे पुत्रपौत्रों-को सुरक्षित रख दें।

३६५ हमें धनका बँटवारा ठीक समयपर मिल जाय।

करना, उच्चार करना, ढूँढना, प्रिय होना। (५) अररुस् = जानेवाला, हिलनेवाला, शत्रु, शत्रु (अ-प्रयच्छन्, सायनः।) रा = देना; ररुस् = देनेवाला; अ-ररुस् = न देनेहारा, जो दान न देता हो-- (कंजूस, कृपण।)

[३६४] (१) रध्र = (राध् संसिद्धौ) = धनिक, उदार, सुखी, दुःख देनेवाला, पूजा करनेहारा। (२) भृमि = (भ्रम् चलने = भटकना) झंझावात, शीघ्रता, इधर उधर घूमनेवाला (भीखमँगा)। (३) जुन् (गतौ) = जाना, हिलना।

[३६५] (१) दात्रं = काटनेका हथियार, दान, दानका स्थान। दा+त्रं = जिस दानसे त्राण-रक्षण होता हो, वह दान।

(३६६) सम् । यत् । हनन्त । मन्युऽभिः । जनासः ।
शूराः । यह्वीषु । ओषधीषु । विक्षु ।
अध । स्म । नः । मरुतः । रुद्रियासः । त्रातारः । भूत । पृतनासु । अर्यः ॥२२॥

(३६७) भूरि । चक्र । मरुतः । पित्र्याणि ।
उक्थानि । या । वः । शस्यन्ते । पुरा । चित् ।
मरुत्ऽभिः । उग्रः । पृतनासु । साळ्हा ।
मरुत्ऽभिः । इत् । सनिता । वाजम् । अर्वा ॥२३॥

अन्वयः- ३६६ (हे) रुद्रियासः अर्यः मरुतः ! यत् शूराः जनासः यह्वीषु ओषधीषु विक्षु मन्युभिः सं हनन्त अध पृतनासु नः त्रातारः भूत स्म ।

३६७ (हे) मरुतः ! पित्र्याणि भूरि उक्थानि चक्र, वः या पुरा चित् शस्यन्ते, उग्रः मरुद्भिः पृतनासु साळ्हा, मरुद्भिः इत् अर्वा वाजं सनिता ।

अर्थ- ३६६ हे (रुद्रियासः) महावीरके (अर्यः) पूज्य (मरुतः!) वीर मरुतो ! (यत्) जब तुम्हारे (शूराः जनासः) शूर लोग (यह्वीषु) नदियों में (ओषधीषु) अरण्य में-वृक्षकुंजमें (विक्षु) प्रजा में (मन्युभिः) उत्साह-पूर्वक शत्रुपर (सं हनन्त) मिलकर हमला करते हैं (अध) तब इन ऐसे (पृतनासु) युद्धों में (नः) हमारे (त्रातारः भूत स्म) संरक्षक बने रहो ।

३६७ हे (मरुतः!) वीर मरुतो ! तुम (पित्र्याणि) पितरों के संबंध में (भूरि) बहुतसे (उक्थानि) स्तोत्र (चक्र) कर चुके हो; (वः) तुम्हारे (या) इन स्तोत्रों की (पुरा चित्) पहलेसे (शस्यन्ते) प्रशंसा होती है । (उग्रः) उग्र स्वरूपवाला वीर (मरुद्भिः) मरुतोंकी सहायतासे (पृतनासु) युद्धों में शत्रुओं का (साळ्हा) पराभव करता है; (मरुद्भिः इत्) वीर मरुतोंकी प्रेरणासे (अर्वा) घोडा भी (वाजं) युद्धक्षेत्रके (सनिता) अपने कार्य पूर्ण करता है ।

भावार्थ— ३६६ वीर सैनिक जब उत्साहपूर्वक शत्रुपर हमले करते हैं, तब उनकी लडाइयाँ नदियोंमें, अरण्योंमें विद्यमान घने निकुंजोंमें तथा जनताके मध्य हुआ करती हैं । ऐसे युद्धोंमें वे हमारी रक्षा करें ।

३६७ वीर मरुत् कवि हैं । उनके काव्योंकी प्रशंसा सभी करते हैं और इनकी सहायतासे वीर सैनिक शत्रुओंको परास्त करते हैं तथा घोडे भी युद्धमें अपना कार्य ठीक प्रकारसे निभाते हैं ।

टिप्पणी— [३६६] (१) यह्व= बडा, शक्तिमान, चपल, चंचल । यह्वी=नदी, आकाश, पृथ्वी, प्रातःकाल का-सायंकालका दिनका-रात्रिका भाग । युद्ध तीन स्थलोंमें हुआ करते हैं । (१) यह्वीषु= नदियोंके स्थलमें, नदी लाँघते समय हमले होते हैं । (२) ओषधीषु=जंगलोंमें, सघन वृक्षनिकुञ्जोंमें छिपे ढंगसे बैठकर शत्रुपर चढाई की जाती हैं और (३) विक्षु= जनतामें, नगरोंमें घनी बस्तियों के मध्य, नगर कब्जेमें लेनेके लिए । इस भाँति तीन प्रकारके समरोंमें वे वीर हमें बचायें । (२) ओषधी= (दोषधी, निरुक्त) शरीरके दोष हटानेके लिए उपयुक्त औषधिः (ओष) तेज (धी) धारण करनेहारी वनस्पति, जंगल, कुंज, अरण्य । [३६७] (१) उक्थं=वाक्य, श्लोक, स्तोत्र, यज्ञ । (२) वाजं=अन्न, युद्ध, जल, बल । (३) साळ्हा= (सह्= पराभव करना, जीतना) पराभव करनेहारा, विजेता । (४) सन् = (संभक्तौ) विभाग करना, सेवन करना, पाना, प्रिय होना, सम्मान देना । मरुतोंके कवि होनेके सम्बन्धमें उल्लेख २३९; २९१; २९४; २९९; ३९३ मन्त्रोंमें देखिए ।

(३६८) असे इति । वीरः । मरुतः । शुष्मी । अस्तु । जनानाम् । यः । असुरः । विऽधर्ता ।
अपः । येन । सुऽक्षितये । तरेम । अध । स्वम् । ओकः । अभि । वः । स्याम ॥२४॥
(३६९) तत् । नः । इन्द्रः । वरुणः । मित्रः । अग्निः । आपः । ओषधीः । वनिनः । जुषन्त ।
शर्मन् । स्याम । मरुताम् । उपऽस्थे । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥२५॥

(ऋ० ७।५७।१-७)

(३७०) मध्वः । वः । नाम । मारुतम् । यजत्राः । प्र । यज्ञेषु । शवसा । मदन्ति ।
ये । रेजयन्ति । रोदसी इति । चित् । उर्वी इति । पिन्वन्ति । उत्सम् । यत् । अयासुः । उग्राः ॥१॥

अन्वयः—३६८ (हे) मरुतः! यः असु-रः जनानां विधर्ता असे वीरः शुष्मी अस्तु, येन सु-क्षितये अपः तरेम, अध वः स्वं ओकः अभि स्याम। ३६९ इन्द्रः मित्रः वरुणः अग्निः आपः ओषधीः वनिनः नः तत् जुषन्त, मरुतां उप-स्थे शर्मन् स्याम, यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात। ३७० (हे) यजत्राः! वः मारुतं नाम मध्वः यज्ञेषु शवसा प्र मदन्ति, यत् उग्राः अयासुः, ये उर्वी चित् रोदसी रेजयन्ति, उत्सं पिन्वन्ति।

अर्थ- ३६८ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (यः) जो अपना (असु-रः) जीवन देकर (जनानां वि-धर्ता) लोगों का विशेष ढंगसे धारण करता है वह (असे वीरः) हमारा वीर (शुष्मी अस्तु) बलिष्ठ रहे। (येन) जिनकी सहायतासे हम (सु-क्षितये) उत्तम निवास करने के लिए (अपः) समुद्रको भी (तरेम) तैरकर चले जाते हैं; (अध) और (वः) तुम्हारे मित्र बनकर हम (स्वं ओकः) अपने निजी घरमें (अभि स्याम) सुखपूर्वक निवास करते हैं।

३६९ (इन्द्रः) इन्द्र, (मित्रः) मित्र, (वरुणः) वरुण, (अग्निः) अग्नि, (आपः) जल, (ओषधीः) ओषधियाँ तथा (वनिनः) वनके पेड (नः तत्) हमारा वह स्तोत्र (जुषन्त) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। (मरुतां उप स्थे) वीर मरुतों के निकटतम सहवास में हम (शर्मन् स्याम) सुखसे रहें। हे वीरो! (यूयं) तुम (स्वस्तिभिः) कल्याणकारक उपायों से (सदा) हमेशा (नः पात) हमारी रक्षा करो।

३७० हे (यजत्राः!) पूज्य वीरो! (वः मारुतं नाम) तुम वीर मरुतों का नाम सचमुचही (मध्वः) मिठासका द्योतक है। ये वीर (यज्ञेषु) यज्ञों में (शवसा) बलके कारण (प्र मदन्ति) अतीव हर्षित एवं संतुष्ट हो उठते हैं। (यत्) जब ये (उग्राः) उग्र वीर (अयासुः) शत्रुओंपर चढाई करने जाने लगते हैं तब (ये) वे (उर्वी चित्) बडी विस्तीर्ण (रोदसी) आकाश एवं पृथ्वी को भी (रेजयन्ति) विचलित, प्रकम्पित कर डालते हैं और (उत्सं पिन्वन्ति) जलप्रवाहको भी बहा देते हैं।

भावार्थ- ३६८ अपने जीवनका बलिदान करके समूची जनताका संरक्षण करनेहारा हमारा पुत्र बलवान वीर बने। हमारा निवास सुखमय हो, इसलिए हम बीचकी सभी कठिनाइयाँ दूर करेंगे और वीरोंके मित्र बनकर अपने स्थानमें सुखसे रहेंगे। ३६९ हमारे स्तोत्रका सेवन सभी देव कर लें। वीरोंके समीप हम सहर्ष जीवनयात्रा बितायें। वीर कल्याण-वर्धक साधनों से हमारी रक्षा करें। ३७० यशके कारण हर्षित होनेवाले ये वीर यज्ञमें अपनी सामर्थ्यसे प्रसन्नचेता हो जाते हैं। जब वे वीर शत्रुओंपर आक्रमण कर बैठते हैं तब समूची पृथ्वी दहल उठती है और उस समय वे जलप्रवाहोंको भूमिपर प्रवर्तित कर देते हैं। इनके वेगपूर्ण तथा विद्युत्गति से चलाये हमलोंके फलस्वरूप संसारभरमें कँपकँपी पैदा हो जाती है और जलप्रवाह बहने लगते हैं।

टिप्पणी— [३६८] (१) अपः = जलप्रवाह, जल, कर्म, यज्ञ। (२) तॄ = तैर जाना, हावी बनना, जीतना, नाश करना, किसी के जालसे छूट जाना। [३७०] (१) नाम = नाम, यश, कीर्ति।

(३७१) नि॒ऽचे॒तारः॑ । हि । म॒रु॒तः॒ । गृ॒णन्त॑म् । प्र॒ऽने॒तारः॑ । यज॑मानस्य । मन्म॑ ।
अ॒स्माक॑म् । अ॒द्य । वि॒दथे॑षु । ब॒र्हिः । आ । वी॒तये॑ । स॒द॒त॒ । पि॒प्रि॒या॒णाः ॥२॥
(३७२) न । ए॒तावत् । अ॒न्ये । म॒रुत॑ः । यथा॑ । इ॒मे । भ्राज॑न्ते । रु॒क्मैः । आयु॑धैः । त॒नूभिः॑ ।
आ । रोद॑सी इति॑ । वि॒श्व॒ऽपिशः॑ । पि॒शा॒नाः । स॒मा॒नम् । अ॒ञ्जि । अ॒ञ्ज॒ते । शु॒भे । कम् ॥३॥
(३७३) ऋध॑क् । सा । व॒ः । म॒रु॒तः॒ । दि॒द्युत् । अ॒स्तु॒ । यत् । व॒ः । आग॑ः । पु॒रु॒षता॑ । करा॑म ।
मा । व॒ः । तस्या॑म् । अपि॑ । भू॒म॒ । य॒ज॒त्राः॒ । अ॒स्मे इति॑ । व॒ः । अ॒स्तु॒ । सु॒ऽम॒तिः । चनि॑ष्ठा ॥४॥

अन्वयः- ३७१ (हे) मरुतः! गृणन्तं नि-चेतारः हि, यजमानस्य मन्म प्र-नेतारः पिप्रियाणाः अद्य अस्माकं विदथेषु वीतये बर्हिः आ सदत। ३७२ इमे मरुतः रुक्मैः आयुधैः तनूभिः यथा भ्राजन्ते, न एतावत् अन्ये, विश्व-पिशः रोदसी पिशानाः शुभे समानं अञ्जि कं आ अञ्जते। ३७३ (हे) यजत्राः मरुतः! यत् वः आगः पुरुषता कराम सा वः दिद्युत् ऋधक् अस्तु, वः तस्यां अपि मा भूम, अस्मे वः चनिष्ठा सु-मतिः अस्तु।

अर्थ- ३७१ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! तुम (गृणन्तं) काव्यका सृजन करनेवालोंको (नि-चेतारः हि) इकट्ठे करते हो और (यजमानस्य) याजक के (मन्म) मननीय काव्यका (प्र-नेतारः) निर्माता भी हो। (पिप्रियाणाः) सदा हर्षित एवं प्रसन्न रहनेवाले तुम (अद्य) आज (अस्माकं विदथेषु) हमारे यज्ञमें (वीतये) हविष्यान्नका सेवन करनेके लिए इस (बर्हिः) कुशासनपर (आ सदत) आकर बैठो।

३७२ (इमे मरुतः) ये वीर मरुत् (रुक्मैः) स्वर्णमुद्राओंके हारोंसे (आयुधैः) हथियारोंसे तथा (तनूभिः) अपने शरीरोंसे भी (यथा भ्राजन्ते) जिस भाँति जगमगाते हैं (न एतावत् अन्ये) उस प्रकार दूसरे कोई नहीं प्रकाशमान हो उठते हैं। (विश्व-पिशः) सबको तेजस्वी बनानेहारे तथा (रोदसी) द्युलोक एवं भूलोकको भी (पिशानाः) सँवारते हुए वे वीर (शुभे) शोभाके लिए (समानं अञ्जि) सदृश वीरभूषण या गणवेश (कं आ अञ्जते) सुखपूर्वक पहनते हैं, प्रकाशमान होते हैं।

३७३ हे (यजत्राः मरुतः!) पूज्य वीर मरुतो! (यत्) यद्यपि हमसे (वः आगः) तुम्हारा अपराध (पुरुष-ता कराम) मानवताको भूलें करना, अपराध करना, स्वाभाविक होनेसे हुआ हो, तो भी (सा वः) वह तुम्हारा (दिद्युत्) चमकनेवाला खड्ग हमसे (ऋधक् अस्तु) दूर रहे; (वः) तुम्हारे (तस्यां) उस आयुधके समीप हम (अपि) तनिकभी (मा भूम) न रहें। (अस्मे) हमारे लिए अनुकूल (वः) तुम्हारी (चनिष्ठा) अन्न देनेकी (सु-मतिः अस्तु) अच्छी बुद्धि हो।

भावार्थ— ३७१ ये वीर काव्य बनानेवालोंको एकत्रित करनेवाले तथा स्वयंभी काव्यकी रचना करनेवाले हैं। अतः हमारे यज्ञमें वे आ जायँ और आसनपर बैठ हविष्यान्नका ग्रहण तथा सेवन कर लें। ३७२ ये वीर आभूषण एवं हथियार धारण करके बडे ही अनूठे ढंगसे अपने आपको सँवारते हैं और दूसरे लोगोंकोभी सुशोभित करते हैं। ये सभी वीर समान अलंकार या गणवेश पहनते हैं। ३७३ हमसे भूलें, गलतियाँ होना स्वाभाविक है, क्योंकि हम मानव ही हैं। अतः अगर हमसे इन वीरोंका कोई अपराध हुआ हो, तोभी ये कृपया हमपर हथियार न चलायँ। हाँ, हमें यथेष्ट अन्न प्रदान करनेकी इनकी सद्बुद्धि हमेशा हमारी ओर मुड जाए।

टिप्पणी— [३७१] (१) नि + चि = ढूँढना, इकट्ठा करना, बटोरना। (२) मन्म = इच्छा, स्तोत्र, मनन करने योग्य काव्य। (३) प्र + नी = ले चलना, प्रवृत्त करना, आधार देकर चलाना। प्रणेता = निर्माण करनेहारा नेता, पथप्रदर्शक। [३७२] (१) अञ्ज् = स्वभावदर्शन करवाना, दर्शाना, सम्मान देना, अलंकृत करना, (मंत्र ७ देखिये)। अञ्जि- सैनिक

(३७४) कृते । चित् । अत्र । मरुतः । रणन्त । अनवद्यासः । शुचयः । पावकाः ।
प्र । नः । अवत । सुमतिऽभिः । यजत्राः ।
प्र । वाजेभिः । तिरत । पुष्यसे । नः ॥ ५ ॥
(३७५) उत । स्तुतासः । मरुतः । व्यन्तु । विश्वेभिः । नामऽभिः । नरः । हवींषि ।
ददात । नः । अमृतस्य । प्रऽजायै ।
जिगृत । रायः । सूनृता । मघानि ॥ ६ ॥

अन्वयः- ३७४ अन्-अवद्यासः शुचयः पावकाः मरुतः अत्र कृते चित् रणन्त, (हे) यजत्राः! सु-मतिभिः प्र अवत, नः वाजेभिः पुष्यसे प्र तिरत।

३७५ उत विश्वेभिः स्तुतासः नरः मरुतः हवींषि व्यन्तु, नः प्रजायै अ-मृतस्य ददात, सूनृता रायः मघानि जिगृत।

अर्थ- ३७४ (अन्-अवद्यासः) अनिंदनीय (शुचयः) स्वयं पवित्र होते हुए दूसरोंको (पावकाः) पवित्र करनेहारे ये (मरुतः) वीर मरुत् (अत्र कृते चित्) यहाँपर हमारे चलाये हुए कर्ममें-यज्ञमें (रणन्त) रममाण हों; हे (यजत्राः !) पूजनीय वीरो ! (नः) हमारी तुम (सु-मतिभिः) अच्छी बुद्धियोंसे (प्र अवत) भली भाँति रक्षा करो। (नः) हम (वाजेभिः) अन्नोंसे (पुष्यसे) पुष्ट हों, इस लिए हमें संकटोंसे (प्र तिरत) परे ले चलो।

३७५ (उत) निश्चयपूर्वक (विश्वेभिः नामभिः) सभी नामोंसे (स्तुतासः) प्रशंसित ये (नरः मरुतः) नेता वीर मरुत् (हवींषि व्यन्तु) हविष्यान्न प्राप्त करें। हे वीरो ! (नः प्रजायै) हमारी प्रजाको (अ-मृतस्य) अमरपनका (ददात) प्रदान करो और (सूनृता रायः) आनन्ददायक धन तथा (मघानि) सुखोंकोभी (जिगृत) दे दो।

भावार्थ- ३७४ ये वीर निष्कलंक, विशुद्ध तथा पवित्रता करनेहारे हैं। हम जिस कार्यका सूत्रपात करने चले हैं, उसमें ये रममाण हों। यह कार्य उन्हें अच्छा लगे। ये हमारी रक्षा करें और अच्छे अन्नसे हमारा पोषण हो, इसलिए हमें संकटोंसे छुडा दें।

३७५ प्रशंसनीय वीर सभी प्रकारके उत्तम अन्न प्राप्त कर-लायँ। समूची प्रजाको अविच्छिन्न सुख प्रदान करें और सभी भाँतिके धन एवं सम्पत्ति प्राप्त कर देवें।

अपने शरीरोंपर (समानं अञ्जि Uniform) समानरूपका वेश धर देते हैं। (२) पिश् = आकार देना, सजाना, व्यवस्थित होना, प्रकाशमान होना, तैयार रहना, अलंकृत करना।

[३७३] (१) अधज्-(क्) = पृथक्, दूर। (२) चनिष्ठा = (चनस्-स्थ) बहुतसा अन्न देनेहारी, दातृत्वगुणमें स्थिर। [आगः पुरुषता कराम- भूलें करना मानवी स्वभावके अनुकूल है- To err is human]

[३७४] (१) प्र-तिर् = परले तटपर जाना, उस पार चले जाना। (२) कृत = कृत्य, कर्म, ध्येय, सेवा, परिणाम।

[३७५] (१) वी = (गति-व्याप्ति-प्रजनन-कान्ति-असन-खादनेषु) = लाना, उत्पन्न करना, पाना, खाना। (२) सूनृत = सत्यपूर्ण, आनन्ददायक, मंगल, प्रिय। (३) मघ = सुख, दान, सम्पत्ति। (४) गृ = देना।

(३७६) आ । स्तुतासः । मरुतः । विश्वे । ऊती । अच्छ । सूरीन् । सर्वऽताता । जिगात ।
ये । नः । त्मना । शतिनः । वर्धयन्ति । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥७॥

(ऋ० ७।५८।१-६)

(३७७) प्र । साकम्ऽउक्षे । अर्चत । गणाय । यः । दैव्यस्य । धाम्नः । तुविष्मान् ।
उत । क्षोदन्ति । रोदसी इति । महिऽत्वा । नक्षन्ते । नाकम् । निःऽऋतेः । अवंशात् ॥१॥

(३७८) जनूः । चित् । वः । मरुतः । त्वेष्येण । भीमासः । तुविऽमन्यवः । अयासः ।
प्र । ये । महःऽभिः । ओजसा । उत । सन्ति । विश्वः । वः । यामन् । भयते । स्वःऽदृक् ॥२

अन्वयः— ३७६ (हे) स्तुतासः मरुतः ! विश्वे सर्व-ताता सूरीन् अच्छ ऊती आ जिगात, ये त्मना शतिनः नः वर्धयन्ति, यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात। ३७७ यः दैव्यस्य धाम्नः तुविष्मान् साकं-उक्षे गणाय प्र अर्चत, उत अवंशात् निर्ऋतेः क्षोदन्ति, महित्वा रोदसी नाकं नक्षन्ते। ३७८ (हे) भीमासः तुवि-मन्यवः अयासः मरुतः ! वः जनूः त्वेष्येण चित्, उत ये महोभिः ओजसा प्र सन्ति, वः यामन् स्वर्-दृक् विश्वः भयते।

अर्थ— ३७६ हे (स्तुतासः मरुतः!) प्रशंसनीय वीर मरुतो ! तुम (विश्वे) सभी लोग उस (सर्व-ताता) सभी जगह फैलनेवाले यज्ञकर्म में काम करनेवाले (सूरीन् अच्छ) विद्वानोंकी ओर (ऊती) संरक्षक शक्तियों के साथ (आ जिगात) आओ। (ये) जो तुम (त्मना) स्वयंही (शतिनः नः) हम जैसे सैकडों मानवोंको (वर्धयन्ति) बढाते हैं। (यूयं) तुम (स्वस्तिभिः) कल्याणकारक उपायोंद्वारा (सदा) सदैवके लिए (नः पात) हमारी रक्षा करो। ३७७ (यः) जो (दैव्यस्य धाम्नः) दिव्य स्थान का (तुविष्मान्) ज्ञाता है, उस (साकं-उक्षे) संघ के बलको धारण करनेहारे (गणाय) वीरों के समूह की (प्र अर्चत) पूजा करो। (उत) क्योंकि वे वीर (अवंशात्) वंश के विनाशरूपी (निर्ऋतेः) आपत्ति को (क्षोदन्ति) चकनाचूर कर देते हैं, विनष्ट करते हैं, और (महित्वा) बडप्पनसे (रोदसी) आकाश एवं पृथ्वी तथा (नाकं) स्वर्ग के मध्य (नक्षन्ते) जा पहुँचते हैं, व्याप्त होते हैं। ३७८ हे (भीमासः) भीषण रूपधारी, (तुवि-मन्यवः) अत्यंत उत्साह से परिपूर्ण एवं (अयासः मरुतः!) वेगवान वीर मरुतो! (वः जनूः) तुम्हारा जन्म (त्वेष्येण चित्) तेजस्वितासे युक्त है, (उत) उसी प्रकार (ये महोभिः) जो महत्त्वोंसे तथा (ओजसा) शारीरिक बलसे (प्र सन्ति) प्रसिद्ध हैं, ऐसे (वः) तुम्हारे (यामन्) शत्रुदलपर हमले करते समय (स्वर्-दृक्) आकाश की ओर दृष्टि देकर (विश्वः भयते) समूचा प्राणिसमूह भयभीत हो उठता है।

भावार्थ— ३७६ ये वीर सैकडों मानवोंका संवर्धन करते हैं। इस यज्ञकर्ममें जो विद्वान कार्यमें निरत हुए हैं, उनकी रक्षाका भार ये वीर उठावें और कल्याण करनेके सभी साधनोंसे हम सबकी रक्षा करें। ३७७ ये वीर उस दिव्य स्थानको जानते हैं, जहां पहुँचनेकी इच्छा सबके मनमें उठ खडी होती है। इन वीरोंमें सांघिक बल विद्यमान है, इसीलिए इनका सत्कार करो। ये वंशनाशकी घोर आपत्ति से बचाते हैं और अपने बडप्पनसे भूमंडल, आकाश एवं स्वर्गमें भी अप्रतिहत संचार करते हैं। ३७८ ये वीर सैनिक बडेही उत्साही एवं प्रभावी हैं। उनका जन्मही तेजकी वृद्धि करनेके लिए है। अपने बलसे तथा प्रभावसे वे सभी जगह प्रसिद्ध हैं। जब वे शत्रुपर आक्रमण कर बैठते हैं, तब इनके प्रचण्ड वेगसे सभी जीवजन्तु भयभीत हो जाते हैं।

टिप्पणी— [३७६] (१) सर्व-ताता= यज्ञ, जिसका परिणाम सभी जगह फैल सके ऐसा अच्छा कर्म। (२) तातिः= वंश, फैलनेवाला। [३७७] (१) तुविस्= वृद्धि, शक्ति, ज्ञान। (२) निर्ऋतिः= नाश, विपत्ति, संकट,

(३७९) बृहत् । वयः । मघवत्ऽभ्यः । दधात । जुजोषन् । इत् । मरुतः । सुऽस्तुतिम् । नः ।
गतः । न । अध्वा । वि । तिराति । जन्तुम् । प्र । नः । स्पार्हाभिः । ऊतिऽभिः । तिरेत ॥३॥
(३८०) युष्माऽऊतः । विप्रः । मरुतः । शतस्वी । युष्माऽऊतः । अर्वा । सहुरिः । सहस्री ।
युष्माऽऊतः । सम्ऽराट् । उत । हन्ति । वृत्रम् । प्र । तत् । वः । अस्तु । धूतयः । देष्णम् ॥४॥

अन्वयः— ३७९ (हे) मरुतः ! मघ-वद्भ्यः बृहत् वयः दधात, नः सु-स्तुतिं जुजोषन् इत्, गतः अध्वा जन्तुं न वि तिराति, नः स्पार्हाभिः ऊतिभिः प्र तिरेत ।

३८० (हे) मरुतः ! युष्मा-ऊतः विप्रः शतस्वी सहस्री, युष्मा-ऊतः अर्वा सहुरिः, उत युष्मा-ऊतः सम्-राट् वृत्रं हन्ति, (हे) धूतयः ! वः तत् देष्णं प्र अस्तु ।

अर्थ— ३७९ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (मघ-वद्भ्यः) धनिकोंके लिए (बृहत् वयः) बहुत आरोग्य एवं सुदीर्घ जीवन (दधात) दे दो । (नः सु-स्तुतिं) हमारी अच्छी सराहना का तुम (जुजोषन् इत्) सेवन करो । तुम (गतः अध्वा) जिस राहपरसे जा चुके हो, वह मार्ग (जन्तुं) प्राणी को बिलकुल (न तिराति) विनष्ट नहीं करेगा । उसी प्रकार (नः) हमारा (स्पार्हाभिः ऊतिभिः) स्पृहणीय संरक्षक शक्तियों से (प्र तिरेत) संवर्धन करो ।

३८० हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (युष्मा-ऊतः) तुमसे सुरक्षित हुआ, (विप्रः) ज्ञानी मनुष्य (शतस्वी सहस्री) सैकडों तथा हजारों प्रकार के धनसे युक्त होता है । (युष्मा-ऊतः) जिसकी रक्षा एवं देखभाल तुमने की हो, ऐसा (अर्वा) घोडातक (सहु-रिः) सहनशक्तिसे युक्त होता है- विजयी बनता है । (युष्मा-ऊतः) तुम्हारी सहायतासे सुरक्षित बना हुआ (सम्-राट्) सार्वभौम नरेश (वृत्रं) निरोधक दुश्मनोंको (हन्ति) मार डालता है । हे (धूतयः !) शत्रुओंको हिलानेवाले वीरो ! (वः तत्) तुम्हारा वह (देष्णं) दान हमें (प्र अस्तु) पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध हो ।

भावार्थ— ३७९ जो धनिक हैं, उन्हें उत्तम आरोग्य तथा दीर्घ जीवन मिले । जिस राहपरसे वीर पुरुष चले हैं, उसपर उनके अच्छे प्रबंधके कारण अब किसीको भी कुछ कष्ट नहीं उठाना पडता है और इनकी संरक्षक शक्ति उधर काम कर रही है, अतः सभी की उत्तम रक्षा हो रही है ।

३८० यदि ये वीर किसी मानव के संरक्षण का बीडा उठा लें, तो वह अवश्यही धनाढ्य, विजयी, एवं सार्वभौम बनता है ।

शाप, पृथ्वीका तल । (३) क्षुद् (गतौ संपेषणे च) = जाना, कुचलना, चकनाचूर करना । (४) नक्ष् (गतौ)= समीप आना, पहुँचना । (५) अ-वंश= निर्वंश होना, वंशनाश । अ-वंशात् निर्ऋतिः = निर्वंश हो जानेका भय । यह बडा खतरनाक है, क्योंकि संततिसातत्यसे अमरपन की प्राप्ति होती है । (देखिए-प्रजाभिः अमृतत्वं । ऋग्वेद ५।४।१०) । [३७८] (१) अयः= गति, वेग, चढाई, हमला । (२) यामन्= गति, जाना, आक्रमण, हमला । (३) स्वर्-दृक्= (स्वः) अपने आत्मिक (२) प्रकाशकी ओर दृष्टिपात करनेहारा, स्वर्ग का विचार करनेहारा, आकाश की ओर टकटकी लगाकर देखनेवाला । [३७९] (१) मघ= सुख, दान, संपत्ति । (२) वयस्= अन्न, आयुष्य, यौवन, शक्ति, हविष्यान्न, आरोग्य । (प्रायः देखा जाता है कि धनिक लोग रोगी, क्षीण, अल्पायु तथा संतानविहीन होते हैं, इसीलिए यहाँपर जो यह प्रतिपादन किया है कि धनाढ्य पुरुषोंको दीर्घ जीवन एवं आरोग्य मिले, वह बिलकुल उचित है ।) [३८०] (१) सहु-रिः (सह् मर्षणे तृप्तौ च) = बरदाश्त करनेहारा, पराभव करनेवाला, विजयी, पृथ्वी, सूर्य । (२) वृत्र= (वृञ् आवरणे) शत्रु, मेघ, अँधेरा, आवाज, घेरनेवाला दुश्मन । (३) देष्णं= दान, देन ।

(३८१) तान् । आ । रुद्रस्य । मीळ्हुषः । विवासे । कुवित् । नंसन्ते । मरुतः । पुनः । नः ।
यत् । सस्वर्ता । जिहीळिरे । यत् । आविः । अव । तत् । एनः । ईमहे । तुराणाम् ॥५॥
(३८२) प्र । सा । वाचि । सुऽस्तुतिः । मघोनाम् । इदम् । सुऽउक्तम् । मरुतः । जुषन्त ।
आरात् । चित् । द्वेषः । वृषणः । युयोत । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥६॥
(ऋ० ७।५८।१-११)
(३८३) यम् । त्रायध्वे । इदम्ऽइदम् । देवासः । यम् । च । नयथ ।
तस्मै । अग्ने । वरुण । मित्र । अर्यमन् । मरुतः । शर्म । यच्छत ॥१॥

अन्वयः— ३८१ मीळ्हुषः रुद्रस्य तान् आ विवासे, मरुतः नः कुवित् पुनः नंसन्ते, यत् सस्वर्ता यत् आविः जिहीळिरे तुराणां तत् एनः अव ईमहे।

३८२ मघोनां सु-स्तुतिः सा वाचि प्र, मरुतः इदं सूक्तं जुषन्त, (हे) वृषणः! द्वेषः आरात् चित् युयोत, यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात।

३८३ (हे) देवासः! यं इदं-इदं त्रायध्वे यं च नयथ, तस्मै (हे) अग्ने! वरुण! मित्र! अर्यमन्! मरुतः! शर्म यच्छत।

अर्थ— ३८१ (मीळ्हुषः) बलिष्ठ (रुद्रस्य तान्) रुद्रके उन वीरोंकी (आ विवासे) मैं सेवा करता हूँ। (मरुतः) वे वीर मरुत् (नः) हमें (कुवित्) अनेक बार तथा (पुनः) बारंबार (नंसन्ते) सहायता पहुँचाते हैं, हममें सम्मिलित होते हैं। (यत् सस्वर्ता) जिन गुप्त या (यत् आविः) प्रकट पापोंके कारण वे (जिहीळिरे) हमपर क्रोध प्रकट करते आये हैं, उन (तुराणां) शीघ्रतासे अपना कर्तव्य करनेवालों के संबंधमें किया हुआ वह (एनः) पाप हम अपनेसे (अव ईमहे) दूर हटाते हैं।

३८२ (मघोनां) धनाढ्य वीरोंकी यह (सु-स्तुतिः) उत्कृष्ट सराहना है, (सा) वह सदैव हमारे (वाचि प्र) संभाषणमें निवास करे। (मरुतः) वीर मरुत् (इदं सूक्तं) इस सूक्तका (जुषन्त) सेवन करें। हे (वृषणः!) बलिष्ठ वीरो! हमारे (द्वेषः) द्वेष्टाओं को (आरात् चित्) जब तक वे दूर हैं, तभीतक हमसे (युयोत) दूर करो। (यूयं) तुम (स्वस्तिभिः) कल्याणकारक उपायोंद्वारा (सदा) हमेशा (नः पात) हमारी रक्षा करो!

३८३ हे (देवासः!) देवो! (यं) जिसे तुम (इदं-इदं) इस भाँति (त्रायध्वे) सुरक्षित रखते हो (यं च) और जिसे अच्छी राहसे (नयथ) ले चलते हो, (तस्मै) उसे हे (अग्ने!) अग्ने! हे (वरुण!) वरुण! हे (मित्र!) मित्र! हे (अर्यमन्!) अर्यमन्! तथा हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (शर्म यच्छत) सुख दे दो।

भावार्थ— ३८१ हम इन वीरोंकी सेवा करते हैं, इसलिए वे बारंबार हमारी मदद करते हैं। पाप करनेसे उन्हें क्रोध आता है, अतः हम पापी विचारधाराको बहुत दूर हटाते हैं।

३८२ इन वीरोंके संबंधमें यह काव्य हमारे मुँहमें सदैव रहने पाय। जबलौं हमारे शत्रु सुदूर स्थानोंमें हैं, तभीतक उनका नाश ये वीर सैनिक करें और हमारी रक्षाका अच्छा प्रबंध करके कल्याण करें।

३८३ जिसकी रक्षाका भार वीर अपने ऊपर ले लेते हैं, वह सुखी बनता है।

टिप्पणी— [३८१] (१) नस्= पहुँचना, समीप जाना, झुकना, नम्र होना, सामने खडा होना। (२) एनस्= पाप, अपराध, दोष, त्रुटि। (३) जिहीळिरे = (हेड् अनादरे) अनादर दर्शाया, धिक्कार किया, दुतकारा।

(३८४) युष्माकंम् । देवाः । अवसा । अहनि । प्रिये । ईजानः । तरति । द्विषः ।
प्र । सः । क्षयम् । तिरते । वि । महीः । इषः । यः । वः । वराय । दाशति ॥२॥
(३८५) नहि । वः । चरमम् । चन । वसिष्ठः । परिऽमंसते ।
अस्माकम् । अद्य । मरुतः । सुते । सचा । विश्वे । पिबत । कामिनः ॥३॥
(३८६) नहि । वः । ऊतिः । पृतनासु । मर्धति । यस्मै । अराध्वम् । नरः ।
अभि । वः । आ । अवर्त् । सुऽमतिः । नवीयसी । तूयम् । यात । पिपीषवः ॥४॥

अन्वयः— ३८४ (हे) देवाः! युष्माकं अवसा प्रिये अहनि ईजानः द्विषः तरति, यः वः वराय महीः इषः वि दाशति, सः क्षयं प्र तिरते।

३८५ (हे) मरुतः! वसिष्ठः वः चरमं चन नहि परिमंसते, अद्य अस्माकं सुते कामिनः विश्वे सचा पिबत।

३८६ (हे) नरः! यस्मै अराध्वं, वः ऊतिः पृतनासु नहि मर्धति, वः नवीयसी सु-मतिः अभि अवर्त्, पिपीषवः तूयं आ यात।

अर्थ— ३८४ हे (देवाः!) प्रकाशमान वीरो! (युष्माकं अवसा) तुम्हारी रक्षासे सुरक्षित हो (प्रिये अहनि) अभीष्ट दिन (ईजानः) यज्ञ करनेहारा (द्विषः तरति) द्वेष्टा लोगोंको लाँघ जाता है, शत्रुओंका पराभव करता है। (यः) जो (वः वराय) तुम जैसे श्रेष्ठ पुरुषोंको (महीः इषः) बहुत सारा अन्न (वि दाशति) प्रदान करता है, (सः) वह (क्षयं) अपने निवासस्थान को (प्र तिरते) निर्भय बना देता है।

३८५ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (वसिष्ठः) यह वसिष्ठ ऋषि (वः चरमं चन) तुममेंसे अंतिमका भी (नहि परिमंसते) अनादर नहीं करता है, सबकी बराबर सराहना करता है। (अद्य अस्माकं) आज दिन हमारे यहाँ (सुते) सोमरसके निचोड चुकनेपर उसे पीनेके लिए (कामिनः) अपनी चाह व्यक्त करनेवाले तुम (विश्वे) सभी (सचा) मिलजुलकर उस रसको (पिबत) पी लो।

३८६ हे (नरः!) नेता वीरो! तुम (यस्मै) जिसे संरक्षण (अराध्वं) देते हो, वह (वः ऊतिः) तुम्हारी संरक्षणक्षम शक्ति (पृतनासु) युद्धोंमें उसका (नहि मर्धति) विनाश नहीं करती है। (वः) तुम्हारी (नवीयसी) नाविन्यपूर्ण (सु-मतिः) अच्छी बुद्धि (अभि अवर्त्) हमारी ओर मुड जाए। (पिपीषवः) सोमपान करनेकी इच्छा करनेहारे तुम (तूयं आ यात) शीघ्रही इधर आओ।

भावार्थ— ३८४ वीरोंकी सहायता पाकर मानव सुरक्षित बनें, यज्ञ करें, अन्नदान करें और निर्भय बन सुखपूर्वक कालक्रमणा करें।

३८५ वीरोंका आदर करना चाहिए, उन्हें सोमरस पीनेके लिए देना चाहिए और वीर भी उसे ग्रहण कर सेवन करें।

३८६ जिन्हें वीरोंका संरक्षण प्राप्त हुआ, वे सदैव सुरक्षित रहते हैं।

टिप्पणी— [३८४] (१) वरः= चुनाव, इच्छा, विनति, दान, वर, श्रेष्ठ, उत्तम। [३८५] (१) मन्= (ज्ञाने, अवबोधने स्तम्भे च) मानना, पूजा करना, आदर करना। परि-मन् = विपरीत ढंगसे मानना, अनादर करना, घृणा के भाव दर्शाना। (२) वसिष्ठः (वासयति इति) = जो कि सबका निवास सुखपूर्वक हो, इसलिये प्रयत्नशील रहता है, एक ऋषि। [३८६] (१) तूयं = शीघ्र।

(३८७) ओ इति । सु । घृष्विऽराधसः । यातन । अन्धांसि । पीतये ।
इमा । वः । हव्या । मरुतः । ररे । हि । कम् । मो इति । सु । अन्यत्र । गन्तन ॥५॥

(३८८) आ । च । नः । बर्हिः । सदत । अवित । च । नः । स्पार्हाणि । दातवे । वसु ।
अस्रेधन्तः । मरुतः । सोम्ये । मधौ । स्वाहा । इह । मादयाध्वै ॥६॥

(३८९) सस्वरिति । चित् । हि । तन्वः । शुम्भमानाः । आ । हंसासः । नीलऽपृष्ठाः । अपप्तन् ।
विश्वम् । शर्धः । अभितः । मा । नि । सेद । नरः । न । रण्वाः । सवने । मदन्तः ॥७॥

अन्वयः— ३८७ (हे) घृष्वि-राधसः मरुतः ! अन्धांसि पीतये सु ओ यातन, हि वः इमा हव्या ररे, अन्यत्र मो सु गन्तन ।

३८८ स्पार्हाणि वसु दातवे नः अवित च, नः बर्हिः आ सदत च, (हे) अ-स्रेधन्तः मरुतः! इह मधौ सोम्ये स्वाहा मादयाध्वै ।

३८९ सस्वः चित् हि तन्वः शुम्भमानाः नील-पृष्ठाः हंसासः सवने मदन्तः रण्वाः नरः न आ अपप्तन्, विश्वं शर्धः मा अभितः नि सेद ।

अर्थ— ३८७ हे (घृष्वि-राधसः मरुतः !) संघर्षमें सिद्धि पानेवाले वीर मरुतो ! (अन्धांसि पीतये) अन्नरस पीनेके लिए (सु ओ यातन) अच्छी व्यवस्थासे आओ। (हि) क्योंकि (वः) तुम्हें (इमा हव्या) ये हविष्यान्न मैं (ररे) प्रदान कर रहा हूँ, अतः तुम (अन्यत्र) दूसरी ओर कहीं भी (मो सु गन्तन) बिलकुल न जाओ।

३८८ (स्पार्हाणि) स्पृहणीय (वसु) धन (दातवे) देनेके लिए (नः) हमारी ओर (अवित च) आओ और (नः बर्हिः) हमारे इन आसनोंपर (आ सीदत च) बैठ जाओ। हे (अ-स्रेधन्तः मरुतः !) अहिंसक वीर मरुतो ! (इह) यहाँके (मधौ) मिठास से पूर्ण (सोम्ये) सोमरस के (स्वाहा) भागका, स्वीकार कर (मादयाध्वै) आनन्दित हो जाओ।

३८९ (सस्वः चित् हि) गुप्त जगह रहनेपरभी (तन्वः शुम्भमानाः) अपने शरीरों को सुशोभित करनेवाले ये वीर (नील-पृष्ठाः हंसासः) नीलवर्ण-काली पीठसे युक्त हंसों की नाईं या (सवने मदन्तः) यज्ञमें आनंदित होनेवाले (रण्वाः नरः न) रमणीय नेताओं के तुल्य (आ अपप्तन्) हमारे समीप आ जायँ और इनका (विश्वं शर्धः) समूचा बल (मा) मेरे (अभितः नि सेद) चारों ओर रहे ।

भावार्थ— ३८७ वीर हमारे समीप आ जायँ और इस खाद्यपेयसामग्रीका सेवन करें, तथा इस संघर्षमें यश मिलनेतक सहायक बनें ।

३८८ अच्छा धन प्रदान करो। यहाँपर पधारकर मिठासभरे अन्नका सेवन करके प्रसन्नचेता बनो।

३८९ गुप्त स्थानपर-दुर्गमें-रहते हुए भी अपने आपको सजाते-सँवारते हुए ये वीर सैनिक अपने सारे बलोंके साथ हममें आकर निवास कर लें। जैसे हंस पंक्तियोंमें, कतारोंमें उडने लगते हैं, वैसेही ये वीर कतारमें चलने लगें, और जिस प्रकार यज्ञमें उपस्थित रहनेके लिए यात्रा करनेवाले नेतागण बन-ठनके प्रस्थान करते हैं, उसी प्रकार ये वीर शोभायमान होते हुए सभी कार्यकलाप निभायँ।

टिप्पणी— [३८७] (१) घृष्वि= संघर्षमें चतुर, राधस्= सिद्धि, दान, यश । घृष्वि-राधस्= संघर्षमें सफलता पानेवाला। (२) अन्धस्= अन्न, सोम, सोमरस। [३८८] (१) स्रिध् = दुखाना, विनाश करना, वध करना, (२) स्वाहा = हविर्भाग, अन्नभाग। [३८९] (१) सस्वः= अन्तर्हित, ढका हुआ, गुप्त (निघंटु ३।२५)।

(३९०) यः । नः । मरुतः । अभि । दुःऽहृणायुः । तिरः । चित्तानि । वसवः । जिघांसति ।
द्रुहः । पाशान् । प्रति । सः । मुचीष्ट । तपिष्ठेन । हन्मना । हन्तन । तम् ॥८॥

(३९१) सांऽतपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन ।
युष्माक । ऊती । रिशादसः ॥९॥

(३९२) गृहऽमेधासः । आ । गत । मरुतः । मा । अप । भूतन ।
युष्माक । ऊती । सुऽदानवः ॥१०॥

(३९३) इहऽइह । वः । स्वऽतवसः । कवयः । सूर्यऽत्वचः ।
यज्ञम् । मरुतः । आ । वृणे ॥११॥

अन्वयः— ३९० (हे) वसवः मरुतः ! दुर्हणायुः तिरः यः नः चित्तानि अभि जघांसति सः द्रुहः पाशान् प्रति मुचीष्ट तं तपिष्ठेन हन्मना हन्तन।

३९१ (हे) सान्तपनाः रिश-अदसः मरुतः ! इदं तत् हविः जुजुष्टन, युष्माक ऊती।

३९२ (हे) गृह-मेधासः सु-दानवः मरुतः ! युष्माक ऊती आ गत, मा अप भूतन।

३९३ (हे) स्व-तवसः कवयः सूर्य-त्वचः मरुतः ! इह-इह यज्ञं वः आ वृणे।

अर्थ- ३९० हे (वसवः मरुतः !) बसानेवाले वीर मरुतो ! (दुर्हणायुः) अतीव क्रोधी तथा (तिरः) तिरस्करणीय (यः) जो दुरात्मा (नः चित्तानि) हमारे दिलका (अभि जिघांसति) नाश करना चाहता है, (सः) वह (द्रुहः पाशान्) द्रोहके फंदों को (प्रति मुचीष्ट) हमपर डाल देगा; तब (तं) उस हत्यारे को (तपिष्ठेन हन्मना) अति तप्त आयुधसे (हन्तन) मार डालो।

३९१ हे (सान्तपनाः) शत्रुओंको परिताप देनेवाले तथा (रिश-अदसः) हिंसकों को विनष्ट करनेहारे (मरुतः !) वीर मरुतो ! तुम (इदं तत् हविः) इस उस हविष्यान्नका (जुजुष्टन), सेवन करो और (युष्माक ऊती) तुम्हारी संरक्षणशक्ति बढाओ।

३९२ (गृह-मेधासः) गृहस्थधर्म को निभाते हुए (सु-दानवः) उत्तम दान करनेहारे (मरुतः !) वीर मरुतो ! तुम (युष्माक ऊती) अपनी संरक्षक शक्तियों के साथ (आ गत) हमारे समीप आओ; हमसे (मा अप भूतन) दूर न चले जाओ।

३९३ (स्व-तवसः) अपने निजी बलसे युक्त होनेवाले, (कवयः) ज्ञानी और (सूर्य-त्वचः) सूर्यवत् तेजस्वी (मरुतः !) वीर मरुतो ! (इह-इह) अब यहाँ (यज्ञं) यज्ञ करके (वः) तुम्हें मैं (आ वृणे) संतुष्ट करता हूँ।

भावार्थ— ३९० दुरात्मा शत्रु हमारे मनमें विद्यमान सुविचारोंको नष्ट करके, हमसे द्वेषपूर्ण व्यवहार करके, हमें परतन्त्र भी करना चाहते हैं। ऐसे लोगों का सभी जगह तिरस्कार हो और तीक्ष्ण हथियारोंसे उनका विनाश किया जाए।

३९१ जनताको उचित है कि वह वीरोंके लिए अन्न दें और इससे वे अपनी संरक्षक शक्ति बढा दें।

३९२ वीर पुरुष हमारे समीप रहें और हमारी रक्षा करें। वे कभी हमसे दूर न हों।

३९३ यज्ञमें वीर सैनिकों एवं पुरुषोंको बुलवाकर उनका सम्मान करना चाहिए।

टिप्पणी— [३९०] (१) दुर्-हृणायुः=(हृणीयते; हृ लज्जायां रोषणे च); (हृणायुः=क्रोधी)- बहुत क्रोध करनेवाला, बहुत निंदा करनेवाला। (२) तपिष्ठ= (तप् संतापे) तपाया हुआ, विनाशक। (३) द्रुह् = द्वेष करना, विरोध करना। [३९३] (१) वृण् (प्रीणने) = संतुष्ट करना, सुख-आनन्द देना। आ+वृण्= अपनाया करना, स्वीकारना।

(ऋ० ७।१०४।१८)

(३९४) वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विक्षु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः । सम् । पिनष्टन ।
वयः । ये । भूत्वी । पतयन्ति । नक्तऽभिः । ये । वा । रिपः । दधिरे । देवे । अध्वरे ॥१८॥

बिंदु या अङ्गिरसपुत्र पूतदक्षऋषि । (ऋ० ८।९४।१-१२)

(३९५) गौः । धयति । मरुताम् । श्रवस्युः । माता । मघोनाम् । युक्ता । वह्निः । रथानाम् ॥१॥
(३९६) यस्याः । देवाः । उपऽस्थे । व्रता । विश्वे । धारयन्ते । सूर्यामासा । दृशे । कम् ॥२॥

अन्वयः— ३९४ (हे) मरुतः! विक्षु वि तिष्ठध्वं, ये वयः भूत्वी नक्तभिः पतयन्ति, ये वा देवे अध्वरे रिपः दधिरे रक्षसः इच्छत, गृभायत, सं पिनष्टन। ३९५ रथानां वह्निः युक्ता श्रवस्युः मघोनां मरुतां माता गौः धयति। ३९६ यस्याः उप-स्थे विश्वे देवाः व्रता धारयन्ते, सूर्या-मासा दृशे कं।

अर्थ— ३९४ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! तुम (विक्षु) प्रजाओं में (वि तिष्ठध्वं) रहो। (ये) जो (वयः भूत्वी) बलिष्ठ बनकर (नक्तभिः) रात्री के समय (पतयन्ति) टूट पडते हैं, (ये वा) अथवा जो (देवे अध्वरे) दिव्य यज्ञमें (रिपः दधिरे) हिंसा करते हैं, उन (रक्षसः) राक्षसों को (इच्छत) तुम ढूँढ निकालो, (गृभायत) पकड लो और उनको (सं पिनष्टन) पूरी तरह कुचल दो। ३९५ (रथानां वह्निः) रथों को खींचनेवाली, (युक्ता) योग्य, (श्रवस्युः) यशकी इच्छा करनेहारी (मघोनां मरुतां माता) धनाढ्य वीर मरुतोंकी माता (गौः) गाय या पृथ्वी उन्हें (धयति) दूध पिलाती है। ३९६ (यस्याः उप-स्थे) जिसके समीप रहकर (विश्वे देवाः) सभी देवता अपने अपने (व्रता धारयन्ते) कर्तव्य उचित ढंगसे निभाते हैं। (सूर्या-मासा) सूर्य तथा चंद्रभी जनताको (दृशे कं) प्रकाश देनेके लिए जिसके समीप रहते हैं।

भावार्थ— ३९४ जनतामें वीर भाँतिभाँतिके रूप धारण कर निवास करें। जो प्रजापर विभिन्न ढंगोंसे हमले करते हैं, टूट पडते हैं और जनता से माल, धन छीन लेते हैं, या लूटमारके कार्यमें लगे रहते हैं, उन्हें पकडकर कारागृहमें रखें या उनका समूल नाशही कर डालें। ३९५ रथोंको जोती हुई मरुतोंकी माता गौ उन्हें दूध पिलाती है और वह चाहती है कि मरुतोंका यश प्रतिपल बढे। ३९६ समूचे देवता तथा सूर्यचन्द्र भी गौ (पृथ्वी) के निकट रहकर अपने अपने कर्तव्य करते हैं। (गौकी रक्षा करते हैं। अर्थात् यहाँपर गौमाताका बडप्पन बतलाया है।)

टिप्पणी— [३९४] (१) विक्षु वि तिष्ठध्वं= प्रजाओंमें गुप्त रूपसे विविधरूपधारी होकर प्रजाका रक्षण करनेके लिए निवास करें। (२) रिप् = (रिप्र= बुरा, अशुद्धि, दुर्गन्धी, पाप, हिंसा) अशुद्धि करना, बदबू करना, हिंसा करना। (३) इष् = ढूँढना, पानेका प्रयत्न करना, चाहना। (४) गृभ्= पकडना। (५) वयः = शरीरसे दृढ, बल, आरोग्य, आयु, पंछी। [३९५] (१) चूँकि वीर सैनिक मरुत् गोदुग्ध का यथेष्ट पान करके पुष्ट एवं बलिष्ठ होते हैं, इसलिए यहाँपर बतलाया है कि, गौ उनकी मानों माता है। यह सुतरां स्वाभाविक है कि माता अपने पुत्रोंके यशके सम्बन्धमें सचिंत रहे। (रथानां वह्निः युक्ता गौः) इस मन्त्रमें कहा है कि, रथसे संयुक्त गौही (धयति) दूध पिलाती है। यह विचार करनेयोग्य बात है, क्योंकि साधारणतया ऐसी धारणा प्रचलित है कि जो गाय बोझ ढोने जैसे परिश्रमसाध्य कठिन कर्म करती है, वह धीरे धीरे कम दूध देने लगती है। यह असंभवसा दीख पडता है कि वंध्या गौ के अतिरिक्त अन्य गायों को रथमें जोतते हों। ऐसी वंध्या गौओं को अगर वाहनोंमें जोत लें, तो वे प्रजननक्षम हो दुधारु बनती हैं, ऐसी कुछ लोगोंकी धारणा है, पर शास्त्रज्ञ निर्धारित करें, उसमें वैज्ञानिकता कहाँतक है। (२) युक्त = (युज् योगे संयमने च) जुडा हुआ, कुशल, योग्य (कर्म में कुशल)। (३) वह्निः (वह् प्रापणे)= ढोनेवाला, धारण करनेहारा, अग्नि। [३९६] (१) उप-स्थ = समीप, मध्य-भाग।

(३९७) तत् । सु । नः । विश्वे । अर्यः । आ । सदा । गृणन्ति । कारवः ।
मरुतः । सोमऽपीतये ॥३॥

(३९८) अस्ति । सोमः । अयम् । सुतः । पिबन्ति । अस्य । मरुतः ।
उत । स्वऽराजः । अश्विना ॥४॥

(३९९) पिबन्ति । मित्रः । अर्यमा । तना । पूतस्य । वरुणः ।
त्रिऽसधस्थस्य । जाऽवतः ॥५॥

(४००) उतो इति । नु । अस्य । जोषम् । आ । इन्द्रः । सुतस्य । गोऽमतः ।
प्रातः । होताऽइव । मत्सति ॥६॥

अन्वयः- ३९७ नः अर्यः विश्वे कारवः सदा सु आ तत् गृणन्ति, (हे) मरुतः ! सोम-पीतये ।
३९८ अयं सोमः सुतः अस्ति, अस्य स्व-राजः मरुतः उत अश्विना पिबन्ति ।
३९९ मित्रः अर्यमा वरुणः त्रि-सध-स्थस्य तना पूतस्य जा-वतः पिबन्ति ।
४०० उतो इन्द्रः नु प्रातः होताइव गो-मतः अस्य सुतस्य जोषं मत्सति ।

अर्थ- ३९७ (नः) हमारे (अर्यः) अत्यन्त पूज्य (विश्वे कारवः) सभी कवि, काव्यरचनामें कुशल, (सदा) हमेशा तुम्हारे (तत्) उस बलकी (सु आ गृणन्ति) भली भाँति स्तुति करते हैं । हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (सोम-पीतये) सोमपान करनेके लिए तुम इधर आओ ।

३९८ (अयं सोमः) यह सोमरस (सुतः अस्ति) पूर्णतया निचोडा जा चुका है । (अस्य) इसका (स्व-राजः मरुतः) स्वयंतेजस्वी मरुत्-वीर (उत) उसी प्रकार (अश्विना) अश्विनी-देव भी (पिबन्ति) पान करते हैं ।

३९९ (मित्रः अर्यमा वरुणः) मित्र, अर्यमा एवं वरुण (त्रि-सध-स्थस्य) तीन स्थानोंमें रखे हुए (तना पूतस्य) छलनी से पवित्र किए हुए एवं (जा-वतः) सभी जनोंके सेवनके योग्य सोमरसको (पिबन्ति) पी लेते हैं ।

४०० (उतो) और (इन्द्रः नु) इन्द्र भी (प्रातः होताइव) प्रातःकालके समय होताकी नाईं (गो-मतः) गोदुग्धके मिलावटसे तैयार किये हुए (अस्य) इस (सुतस्य) निचोडे हुए सोमका (जोषं) सेवन करके (मत्सति) हर्षित हो उठता है ।

भावार्थ— ३९७ सभी कवि काव्यका सृजन करके वीरोंके इस बलकी सराहना करते हैं। इसी लिए सोम पीनेके लिए वे इधर अवश्य आ जाएँ ।
३९८ यह सोमरस पूर्णरूपेण सिद्ध है । तेजस्वी वीर एवं अश्विनी-देव इसका ग्रहण करें ।
३९९ तीन स्थानोंमें विद्यमान तीन छलनियोंमेंसे शुद्ध किए हुए सोमरस का सेवन वे सभी वीर करते हैं । कारण यही है कि सोमरस सबके पीनेके लिए योग्य है ।
४०० इन्द्र भी सोमरसमें दूध मिलाकर उस पेय का सेवन करता है और प्रसन्नचेता बनता है ।

टिप्पणी— [३९७] (१) अर्यः=(ऋ गतौ-अरिः अर्यः)= गतिशील, पूज्य, श्रेष्ठ । [३९८] (१) स्व-राजः = (राज् दीप्तौ-प्रकाशना, शासन करना, प्रमुख होना) सब मिलकर शासन करनेहारे-स्वयंशासक (देखिए मंत्र ६८, २९२ तथा ३९८)। [३९९] (१) जा = माता, जाति, देवरानी ।

(४०१) कत् । अत्विषन्त । सूरयः । तिरः । आपःऽइव । स्रिधः ।
अर्षन्ति । पूतऽदक्षसः ॥७॥
(४०२) कत् । वः । अद्य । महानाम् । देवानाम् । अवः । वृणे ।
त्मना । च । दस्मऽवर्चसाम् ॥८॥
(४०३) आ । ये । विश्वा । पार्थिवानि । पप्रथन् । रोचना । दिवः ।
मरुतः । सोमऽपीतये ॥९॥
(४०४) त्यान् । नु । पूतऽदक्षसः । दिवः । वः । मरुतः । हुवे ।
अस्य । सोमस्य । पीतये ॥१०॥

अन्वयः— ४०१ सूरयः स्रिधः तिरः आपःइव अत्विषन्त, पूत-दक्षसः कत् अर्षन्ति ?
४०२ त्मना च दस्म-वर्चसां देवानां महानां वः अवः अद्य कत् वृणे ?
४०३ ये विश्वा पार्थिवानि दिवः रोचना आ पप्रथन्, मरुतः सोम-पीतये ।
४०४ (हे) मरुतः ! पूत-दक्षसः दिवः त्यान् वः नु अस्य सोमस्य पीतये हुवे ।

अर्थ- ४०१ वे (सूरयः) ज्ञानी तथा (स्रिधः) शत्रुविनाशक वीर (तिरः) टेढी राहसे जानेवाले (आपःइव) जलप्रवाहोंकी नाईं (अत्विषन्त) प्रकाशमान होते हैं और वे (पूत-दक्षसः) पवित्र बल धारण करनेहारे वीर (कत्) भला कब हमारी ओर (अर्षन्ति) पधारेंगे ?

४०२ (त्मना च) स्वभाविक ढंगसे (दस्म-वर्चसां) सुन्दर आकारवाले (देवानां) तेजस्वी एवं (महानां) बडे महनीय (वः) तुम जैसे सैनिकोंसे (अवः) संरक्षणकी (अद्य कत्) आज भला कब मैं (वृणे) याचना करूँ ?

४०३ (ये) जो (विश्वा पार्थिवानि) सभी भूमंडलस्थ वस्तुओं को और (दिवः रोचना) द्यु-लोकके तेजस्वी पदार्थोंको (आ पप्रथन्) विस्तृत कर चुके, उन (मरुतः) वीर मरुतों को (सोम-पीतये) सोमपान करनेके लिए मैं बुलाता हूँ।

४०४ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (पूत-दक्षसः) पवित्र बलसे युक्त और (दिवः) तेजस्वी (त्यान् वः) ऐसे तुम्हें (नु) अभी (अस्य सोमस्य पीतये) इस सोमरस के पान के लिए (हुवे) बुलाता हूँ।

भावार्थ- ४०१ जैसे ढलती जगहसे गिरनेवाला जलप्रवाह चमकने लगता है, वैसेही ये ज्ञानी वीर अपने पराक्रमसे जगमगाने लगते हैं। पवित्र कार्य के लिए अपने बलका उपयोग करनेवाले वे वीर सैनिक हमारे यज्ञमें आ जाएँ।

४०२ वे तेजस्वी एवं शक्तिशाली वीर हमारी रक्षा करनेका बीडा उठावें।

४०३ आकाशस्थ एवं भूमंडलस्थ सभी वस्तुओं को मरुतोंने विस्तृत किया है, इसीलिए मैं उन्हें सोमपान करनेके लिए बुलाता हूँ।

४०४ बलवान एवं तेजस्वी वीरोंको आदरपूर्वक बुलाकर अन्नपानके प्रदानसे उनका सत्कार करना चाहिए।

टिप्पणी— [४००] (१) मत्सति= (मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) हर्षित होता है। [४०१] (१) दक्ष= योग्यता, बल, बौद्धिक शक्ति। (२) स्रिध्= विनाश करना, दुःख देना। (३) ऋष् (गतौ)= बह जाना, फिसलना, (जाना)। [४०२] (१) दस्म = (दस् = उपक्षये) विनाशक, सुन्दर, आश्चर्यकारक, याजक, चोर, दुष्ट, अग्नि। (२) वर्चस् = शक्ति, तेज, आकार, सौंदर्य, वीर्य, विद्या। (३) अद्य= आज, आजकल, अब।

(४०५) त्यान् । नु । ये । वि । रोदसी इति । तस्तभुः । मरुतः । हुवे ।
अस्य । सोमस्य । पीतये ॥११॥

(४०६) त्यम् । नु । मारुतम् । गणम् । गिरिऽस्थाम् । वृषणम् । हुवे ।
अस्य । सोमस्य । पीतये ॥१२॥

भृगुपुत्र स्यूमरश्मिऋषि (ऋ० १०।७७।१-८)

(४०७) अभ्रऽप्रुषः । न । वाचा । प्रुष । वसु । हविष्मन्तः । न । यज्ञाः । विऽजानुषः ।
सुऽमारुतम् । न । ब्रह्माणम् । अर्हसे । गणम् । अस्तोषि । एषाम् । न । शोभसे ॥१॥

अन्वयः— ४०५ ये मरुतः रोदसी वि तस्तभुः त्यान् नु अस्य सोमस्य पीतये हुवे।

४०६ त्यं गिरि-स्थां वृषणं मारुतं गणं नु अस्य सोमस्य पीतये हुवे।

४०७ अभ्र-प्रुषः न, वाचा वसु प्रुष, हविष्मन्तः यज्ञाः न वि-जानुषः, ब्रह्माणं न, सु-मारुतं गणं अर्हसे अस्तोषि एषां शोभसे न।

अर्थ- ४०५ (ये मरुतः) जो वीर मरुत् (रोदसी) आकाश एवं भूलोक को (वि तस्तभुः) विशेष ढंगसे आधार दे चुके, (त्यान् नु) उन्हें अभी (अस्य सोमस्य पीतये) इस सोमका सेवन करनेके लिए (हुवे) मैं बुलाता हूँ।

४०६ (त्यं) उस (गिरि-स्थां) पर्वतपर रहनेवाले, (वृषणं) बलवान (मारुतं गणं) वीर मरुतों के समुदायको (नु) अभी (अस्य सोमस्य पीतये) इस सोमरसको पीनेके लिए (हुवे) बुलाता हूँ।

४०७ (अभ्र-प्रुषः न) मेघोंकी वर्षा के तुल्य ये वीर (वाचा) आशीर्वचनोंके साथ (वसु प्रुष) द्रव्यका दान करें। (हविष्मन्तः यज्ञाः न) हविष्यान्नसे युक्त यज्ञोंके समान वे (वि-जानुषः) सब कुछ जाननेवाले वीर सबको सुख दें। (ब्रह्माणं न) ज्ञानीके समान (सु-मारुतं गणं) उत्तम वीर मरुतों के समुदायकी (अर्हसे) आवभगत करनेके लिए ही (अस्तोषि) मैंने स्तुति की; केवल (एषां) इनकी (शोभसे) शोभा देखकरही सराहना (न) नहीं की।

भावार्थ- ४०५ सबको आधार देनेका कार्य वीर करते हैं, इसलिए उन्हें सोमपानमें सम्मिलित होनेके लिए बुलाना चाहिए।

४०६ पर्वतपर रहकर सबका संरक्षण करनेहारे वीरोंको सोमरसका ग्रहण करनेके लिए बुलाना चाहिए।

४०७ मेघसे जिस प्रकार गर्जना के साथ वर्षा होने लगती है, उसी प्रकार ये वीर पर्याप्त धन दे देते हैं और साथही साथ शुभ आशीर्वाद भी दे डालते हैं। जैसे विपुल अन्नसंतर्पणपूर्वक किये हुए यज्ञ सुख देते हैं, वैसेही ये वीर भी स्वयं ज्ञानी होनेके कारण भाँति भाँति के उपायोंद्वारा जनताके सुख बढानेके प्रकार जानते हैं। जिस तरह ज्ञानी पुरुषकी सब जगह सराहना हुआ करती है, उसी प्रकार इन वीरोंके संघकी मैं प्रशंसा करता हूँ। ध्यानमें रहे कि उनके गुणोंको जानकरही मैंने यह प्रशंसा की है, न कि केवल उनके बाहरी डामडौल या टीमटाम अथवा बनाव-सिंगारको देखकर या उससे प्रभावित होकर।

टिप्पणी- [४०५] (१) स्तम्भ्=(रोधने धारणे प्रतिबन्धने च) स्थिर करना, आश्रय देना। [४०६] गिरिः= पर्वत, पहाडपर बँधा हुआ दुर्ग। [४०७] (१) प्रुष् (दाहे, स्नेहनस्वेदनपूरणेषु च) = जलाना, अभिषिक्त करना, गीला करना, सींचना, पूर्ण करना।

(४०८) श्रिये । मर्यासः । अञ्जीन् । अकृण्वत । सुऽमारुतम् । न । पूर्वीः । अति । क्षपः ।
दिवः । पुत्रासः । एताः । न । येतिरे । आदित्यासः । ते । अक्राः । न । वृधुः ॥२॥
(४०९) प्र । ये । दिवः । पृथिव्याः । न । बर्हणा । त्मना । रिरिच्रे । अभ्रात् । न । सूर्यः ।
पाजस्वन्तः । न । वीराः । पनस्यवः । रिशादसः । न । मर्याः । अभिऽद्यवः ॥३॥
(४१०) युष्माकम् । बुध्ने । अपाम् । न । यामनि । विथुर्यति । न । मही । श्रथर्यति ।
विश्वऽप्सुः । यज्ञः । अर्वाक् । अयम् । सु । वः । प्रयस्वन्तः । न । सत्राचः । आ । गत ॥४॥

अन्वयः— ४०८ मर्यासः श्रिये अञ्जीन् अकृण्वत, पूर्वीः क्षपः सु-मारुतं न अति, दिवः पुत्रासः एताः न येतिरे, आदित्यासः ते अक्राः न वबृधुः। ४०९ ये त्मना बर्हणा दिवः पृथिव्याः न, अभ्रात् सूर्यः न, प्र रिरिच्रे; पाजस्वन्तः वीराः न, पनस्यवः रिश-अदसः मर्याः न, अभिद्यवः। ४१० अपां यामनि न, युष्माकं बुध्ने मही न विथुर्यति श्रथर्यति, अयं विश्व-प्सुः यज्ञः वः सु अर्वाक्, प्रयस्वन्तः न, सत्राचः आ गत।

अर्थ- ४०८ (मर्यासः) मानवोंके हितकर्ता ये वीर (श्रिये) शोभाके लिए (अञ्जीन्) वीरभूषण या गणवेश (अकृण्वत) पहन लेते हैं। (पूर्वीः) पहलेसे (क्षपः) विनाशकारिणी शत्रुसेनाएँ भी (सु-मारुतं) अच्छे वीर मरुतोंके गण या संघको (न अति) पराभूत नहीं कर सकती हैं। (दिवः पुत्रासः) द्युलोकके सुपुत्र ये वीर (एताः न) कृष्णसारों या [बारह सींगों]के तुल्य लंबी छलांगें मारकर विजयके लिए (येतिरे) प्रयत्न करते हैं और (आदित्यासः ते) सूर्यवत् तेजस्वी प्रतीत होनेवाले ये वीर (अक्राः न) गढ या दुर्गके तटकी नाईं (वबृधुः) बढते रहते हैं। ४०९ (ये) जो (त्मना) अपने (बर्हणा) महत्त्वसे (दिवः पृथिव्याः न) द्युलोक जिस तरह पृथ्वीसे, (अभ्रात्) मेघोंसे (सूर्यः न) जैसे सूर्य ऊँचाईपर रहता है, वैसेही (प्र रिरिच्रे) बडे हुए हैं. ये (पाजस्वन्तः वीराः न) बलवान वीरोंके समान (पनस्यवः) प्रशंसनीय और (रिश-अदसः मर्याः न) हिंसक शत्रुओंको मार डालनेवाले मानवी वीरों के तुल्य (अभि-द्यवः) अति तेजस्वी हैं। ४१० (अपां यामनि न) जैसे जलप्रवाहके नीचेकी उसी प्रकार (युष्माकं बुध्ने) तुम्हारी हलचल के नीचे विद्यमान (मही) पृथ्वी (न विथुर्यति) केवल पीडितही होती है, सो बात नहीं पर वह (श्रथर्यति) ढीली तक बन जाती है। (अयं) यह (विश्व-प्सुः यज्ञः) सर्वस्वदानसे संपन्न होनेवाला यज्ञ (वः सु अर्वाक्) तुम्हारे सामने ही हो जाए, तुम्हें लाभ पहुँचानेवाला हो जाय! (प्रयस्वन्तः न) अन्नदान करनेवालोंके समान तुम (सत्राचः) सभी वीर इकट्ठे होकर इस यज्ञमें (आ गत) पधारो।

भावार्थ— ४०८ मानवोंके हित करनेमें लगे हुए ये वीर समान पहनावा पहनकर विभूषित हो घूमते हैं। जो शत्रुसेना पहलेसे विध्वंस करनेपर तुली हुई थी, वह भी इन वीरोंके सम्मुख परास्त हो जाती है; भला इन वीरोंका पराभव कौन कर सके, किसकी इतनी मजाल कि इन वीरोंको पछाड दें। दिव्य शक्तिसे युक्त ये वीर कृष्णसारोंकी नाईं फुर्तीले बन छलांगें मारकर प्रगतिके लिए सचेष्ट रहा करते हैं और दुर्गतटोंके समान चहुँ ओरसे जनताकी रक्षा करते हैं। ४०९ अपनी सामर्थ्यके कारण ये वीर द्यावापृथिवीकी अपेक्षा अत्यधिक बडे हुए हैं। ये वीर सैनिक बलिष्ठ हैं, अतः सराहनीय और शत्रुविध्वंसक होनेके कारण बडे तेजस्वी हैं। ४१० ये वीर जहाँपर जाते हैं, उधरही इनके आन्दोलनों एवं हलचलोंसे भूमि विकम्पित हो उठती है। इनकी हलचल इस भाँति अतीव प्रभावशालिनी है। जिसमें सभी अन्नोंका दान दिया जाता है, ऐसा यह यज्ञ इन्हें प्राप्त हो। इस यज्ञमें सभी वीर मिलकर आ जायँ और अपना अपना भाग ले लें।

टिप्पणी— [४०८] (१) पूर्व = पहला, उत्कृष्ट, प्रस्थापित। (२) क्षपः= (क्षप् क्षेप प्रेरणे च) = विनाशकारिणी (शत्रुसेना)। (३) अक्रः = (अ-क्रः) = स्थिर, कर्महीन, व्यर्थ, निराधार, प्राकार, दुर्गकी दीवार, पताका, (Banner)। (४) मर्यासः = [सायणः - मर्यासः, पूर्वं मनुष्याः सन्तः पश्चात् सुकृतविशेषेण अमरा आसन्।]

(४११) यूयम् । धूःऽसु । प्रऽयुजः । न । रश्मिऽभिः । ज्योतिष्मन्तः । न । भासा । विऽउष्टिषु ।
श्येनासः । न । स्वऽयशसः । रिशादसः ।
प्रवासः । न । प्रऽसितासः । परिऽप्रुषः ॥५॥

(४१२) प्र । यत् । वहध्वे । मरुतः । पराकात् । यूयम् । महः । संऽवरणस्य । वस्वः ।
विदानासः । वसवः । राध्यस्य ।
आरात् । चित् । द्वेषः । सनुतः । युयोत ॥६॥

अन्वयः- ४११ यूयं रश्मिभिः धूर्षु प्र-युजः न, व्युष्टिषु ज्योतिष्मन्तः न भासा, श्येनासः न स्व-यशसः, रिश-अदसः परि-प्रुषः, प्र-वासः न, प्रसितासः ।

४१२ (हे) वसवः मरुतः ! यूयं यत् पराकात् प्र वहध्वे महः संवरणस्य राध्यस्य वस्वः वि-दानासः सनुतः द्वेषः आरात् चित् युयोत ।

अर्थ- ४११ (यूयं) तुम (रश्मिभिः) लगामोंसे (धूर्षु) धुराओंमें (प्र-युजः न) जोते हुए घोडोंके समान वेगवान, (व्युष्टिषु) प्रातःकालीन (ज्योतिष्मन्तः न) आदित्यों के समान (भासा) तेजसे युक्त, (श्येनासः न) बाज पंछियोंकी नाईं (स्व-यशसः) स्वयंही अन्न पानेहारे, (रिश-अदसः) हिंसकोंका वध करनेहारे और (परि-प्रुषः) सभी प्रकारसे पोषण करनेहारे बनकर (प्र-वासः न) प्रवासियों या यात्रियोंके समान (प्रसितास) सदा सिद्ध हो।

४१२ हे (वसवः मरुतः !) बसानेवाले वीर मरुतो ! (यूयं) तुम (यत्) जब (पराकात्) सुदूर देशसे (प्र वहध्वे) वेगपूर्वक आते हो, तब (महः) विपुल, (संवरणस्य) स्वीकारनेयोग्य तथा (राध्यस्य) सिद्धियुक्त (वस्वः) धनका (वि-दानासः) दान देनेवाले तुम (सनुतः द्वेषः) दूरसे आनेवाले द्वेष्टाओंको (आरात् चित्) दूरसेही (युयोत) दूर करो, हटा दो।

भावार्थ-- ४११ ये वीर वेगसे कर्म करनेवाले, तेजस्वी, अपने प्रयत्नसे अन्नकी प्राप्ति करके शत्रुओंका वध करनेहारे और अपनी पुष्टि करनेवाले हैं, तथा यात्रियोंके समान सदैव सिद्ध हैं।

४१२ ये वीर जब दूर देशसे अतिवेगपूर्वक आते हैं, तब वे विपुल धन साथ ले आते हैं और पधारतेही सब लोगोंको वह प्रचुर धनराशि बाँट देते हैं। हमारी यह इच्छा है कि आते समय राहमें ही ये वीर हमारे शत्रुओंको दूर रहते रहतेही विनष्ट कर डालें।

मर मिटनेके लिए तैयार हो लडनेवाले वीर, मर्त्य। [४०९] (१) बर्हणा= (बर्ह्-परिभाषणहिंसाप्रदानेषु) प्रमुख ढंगसे, दानसे, प्रमुख स्थान पानेसे। बर्हण- बलवान, शक्तिमान। (२) रिच्= (विरेचने, वियोजनसंपर्चनयोः)= सूना करना, अलग करना, छोडना, मिलना। प्र+रिच्= विशेष होना, बडा होना, विशेष ढंगसे समर्थ बनना। [४१०] (१) बुध्न = तल, शरीर। (२) प्सु= अन्न (प्सा= खाना) विश्व-प्सु= सर्व अन्नमय। विश्वप्सुः यज्ञः= सारे के सारे अन्नके प्रदानसे होनेवाला यज्ञ। (३) सत्राचः= सब मिलकर एक विशिष्ट चालसे जानेवाले। [४११] (१) प्रसित = बद्ध, निरत, मार्गस्थ, संबद्ध, तैयार। (२) यशस् = यश, सुन्दरता, तेज, कृपा, धन, अन्न, जल। स्व-यशसः = अपने पराक्रमसे यश पानेवाले। [४१२] (१) पराकात् (पराके = कुछ दूरीपर, अंतरपर) = सुदूर देशसे, दूरसेही। (२) सनुतः = दूरसे, गुप्त ढंगसे।

(४१३) यः । उत्ऽऋचि । यज्ञे । अध्वरेऽस्थाः ।
मरुत्ऽभ्यः । न । मानुषः । ददाशत् ।
रेवत् । सः । वयः । दधते । सुऽवीरम् ।
सः । देवानाम् । अपि । गोऽपीथे । अस्तु ॥७॥

(४१४) ते । हि । यज्ञेषु । यज्ञियासः । ऊमाः ।
आदित्येन । नाम्ना । शम्ऽभविष्ठाः ।
ते । नः । अवन्तु । रथऽतूः । मनीषाम् ।
महः । च । यामन् । अध्वरे । चकानाः ॥८॥

अन्वयः—४१३ अध्वरे-स्थाः यः मानुषः यज्ञे उत्-ऋचि मरुद्भ्यः न ददाशत्, सः रे-वत् सु-वीरं वयः दधते, देवानां अपि गो-पीथे अस्तु।

४१४ ते हि ऊमाः यज्ञेषु यज्ञियासः आदित्येन नाम्ना शं-भविष्ठाः, रथ-तूः अध्वरे यामन् महः चकानाः च ते नः मनीषां अवन्तु।

अर्थ— ४१३ (अध्वरे-स्थाः) यज्ञमें स्थिर रहनेवाला; यज्ञ करनेहारा (यः मानुषः) जो मनुष्य (यज्ञे उत्-ऋचि) यज्ञसमाप्ति के उपरान्त (मरुद्भ्यः न) वीर मरुतों को दिया जाता है, उसी भाँति (ददाशत्) दान देता है, (सः) वह (रे-वत्) धनयुक्त एवं (सु-वीरं) अच्छे वीरों से युक्त (वयः) अन्न (दधते) धारण करता है, अपने समीप रखता है और वह (देवानां अपि) देवों के भी (गो-पीथे) गोरसपान के समय उपस्थित (अस्तु) रहता है।

४१४ (ते हि) वे वीर सचमुचही सबकी (ऊमाः) रक्षा करनेहारे हैं, अतः (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (यज्ञियासः) पूजनीय हैं; उसी प्रकार वे (आदित्येन नाम्ना) आदित्यके रूपसे सबको (शं-भविष्ठाः) सुख देनेवाले हैं। (रथ-तूः) रथमें बैठकर वेगसे जानेवाले वे वीर (अध्वरे यामन्) यज्ञमें जाकर (महः चकानाः च) महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। ये (नः मनीषां) हमारी आकांक्षाओं को (अवन्तु) सुरक्षित करें।

भावार्थ— ४१३ यज्ञसमाप्तिके समय जैसे दान दिया जाता है, वैसेही जो दान देने लगता है, वह एक तरह से अपने समीप विद्यमान अन्न को बढाता है और इसी कारणसे उसे पर्याप्त मात्रामें वीर संतान प्राप्त होती है तथा देवोंके सोमरस या गोरसपान के मौकेपर वहाँ उपस्थित होनेका गौरव एवं सम्मान भी उसे मिल जाता है।

४१४ ये वीर सबके संरक्षक हैं, इसलिए यह अत्यन्त उचित है कि, यज्ञमें उनका सम्मान हो। सूर्यवत् वे ये सबको सुखी करते हैं। रथमें बैठकर वे यज्ञोंमें उपस्थित होते हैं और वहाँपर हविर्भाग का आदान करना चाहते हैं। ऐसे ये वीर हमारी आकांक्षाओंकी भली भाँति रक्षा करें।

टिप्पणी— [४१३] (१) गो-पीथ= गोरक्षण, पवित्र स्थान, रक्षा, सोमरस पीनेका स्थान, गोदुग्ध सेवन करनेकी जगह। (२) उत्-ऋच्= बडी आवाजमें कही जानेवाली ऋचा, श्रेष्ठ ऋचा। [४१४] (१) नामन्= नाम, कीर्ति, चिन्ह, जल, आकृति, स्वरूप। (२) चकान= (कन्= संतुष्ट होना, प्रीति करना) संतुष्ट बननेहारे, संतुष्ट होनेवाले, प्यार करनेवाले।

(ऋ० १०।७८।१-८)

(४१५) विप्रा॑सः । न । मन्म॑ऽभिः । सु॒ऽआ॒ध्यः॑ । दे॒व॒ऽअ॒व्यः॑ । न । य॒ज्ञैः । सु॒ऽअप्न॑सः ।
राजा॑नः । न । चि॒त्राः । सु॒ऽसं॒दृशः॑ ।
क्षि॒ती॒नाम् । न । मर्याः॑ । अ॒रे॒पसः॑ ॥१॥

(४१६) अ॒ग्निः । न । ये । भ्राज॑सा । रु॒क्मऽव॑क्षसः ।
वाता॑सः । न । स्व॒ऽयुजः॑ । स॒द्यःऽऊ॑तयः ।
प्र॒ऽज्ञा॒तारः॑ । न । ज्येष्ठाः॑ । सु॒ऽनी॒तयः॑ ।
सु॒ऽशर्मा॑णः । न । सोमाः॑ । ऋ॒तम् । य॒ते ॥२॥

अन्वयः- ४१५ विप्रासः न, मन्मभिः सु-आध्यः, देवाव्यः न, यज्ञैः सु-अप्नसः, राजानः न चित्राः सु-संदृशः, क्षितीनां मर्याः न अ-रेपसः।

४१६ ये, अग्निः न, भ्राजसा रुक्म-वक्षसः, वातासः न स्व-युजः, सद्य-ऊतयः, प्र-ज्ञातारः न ज्येष्ठाः, सोमाः न सु-शर्माणः, ऋतं यते सु-नीतयः।

अर्थ- ४१५ वे वीर (विप्रासः न) ज्ञानी पुरुषों के समान (मन्मभिः) मननीय काव्यों से (सु-आ-ध्यः) उत्कृष्ट विचार प्रकट करनेहारे, (देवाव्यः न) देवोंको संतुष्ट करनेहारे भक्तों के तुल्य (यज्ञैः सु-अप्नसः) बहुतसे यज्ञ करके अच्छे कार्य करनेवाले, (राजानः न) नरेशोंके समान (चित्राः) आश्चर्य-कारक कर्म करनेवाले और (सु-संदृशः) अतिशय सुन्दर स्वरूपवाले हैं तथा (क्षितीनां) अपने गृहमें ही संतुष्ट रहनेवाले (मर्याः न) मानवों के समान (अ-रेपसः) पापरहित हैं।

४१६ (ये) जो (अग्निः न) अग्नितुल्य (भ्राजसा) तेजसे युक्त (रुक्म-वक्षसः) स्वर्णमुद्राओंके हार वक्षःस्थलपर धारण करनेहारे, (वातासः न) वायुप्रवाहके समान (स्व-युजः) स्वयंही काममें जुट जानेवाले, (सद्य-ऊतयः) तुरन्त रक्षा करनेहारे, (प्र-ज्ञातारः न) उत्कृष्ट ज्ञानियोंके तुल्य (ज्येष्ठाः) श्रेष्ठ, (सोमाः न) सोमों के समान (सु-शर्माणः) अत्यन्त सुखदायक तथा (ऋतं यते) सत्यकी ओर जानेवाले के लिए (सु-नीतयः) उत्तम पथप्रदर्शक हैं।

भावार्थ— ४१५ ये वीर ज्ञानी लोगोंके समान मननीय काव्योंसे सुविचारों का प्रचार करनेवाले, यज्ञरूपी सत्कर्मोंसे देवताओं को संतुष्ट करनेहारे, नरेशों की नाईं अनूठे एवं सराहनीय कार्यकलाप निभानेवाले और अपरिग्रह मनोवृत्तिके सज्जनोंके तुल्य निष्पाप हैं।

४१६ जगमगाते मुद्राहार पहननेके कारण द्योतमान, स्वेच्छा से कार्यमें निरत, ज्ञानी, श्रेष्ठ, शान्त, सुखदायी, तथा सन्मार्गपर से चलनेवाले मानवों के तुल्य दूसरों को अच्छी राह बतलानेवाले ये वीर सैनिक हैं।

टिप्पणी— ४१५ (१) स्वाध्य= [सु+आ+ध्य (ध्यै चिन्तायाम्) चिंतन करना, ध्यान करना, सोचना] भली भाँति सोचनेहारा। (२) देवाव्य= (देव+अव् प्रीतितृप्त्योः) देवों को संतुष्ट करनेहारा। (३) स्वप्नसः= (सु+अप्न= कृत्य) अच्छे कृत्य करनेहारे, सत्कर्म करनेवाले। (४) क्षितिः= पृथ्वी, मनुष्य, स्वदेश। क्षि-ति= [क्षि निवासे, गृहे तिष्ठतीति। यथा प्रतिग्रहार्थं अन्यत्र अगत्वा स्वगृहे एव अनुतिष्ठन्तः निर्दोषाः भवन्ति तादृशाः। (सा० भा०)] जो कुछ अपने घरपर मिलेगा, उसीमें संतुष्ट रहकर प्रतिग्रहके लिए दरदर न घूमनेवाला, अपरिग्रह मनोवृत्ति का।

(४१७) वातांसः । न । ये । धुनंयः । जिगत्नवंः । अग्नीनाम् । न । जिह्वाः । विऽरोकिणंः ।
वर्मंण्ऽवन्तः । न । योधाः । शिमीऽवन्तः । पितृणाम् । न । शंसाः । सुऽरातयंः ॥३॥
(४१८) रथांनाम् । न । ये । अराः । सऽनांभयः । जिगीवांसंः । न । शूराः । अभिऽद्यवः ।
वरेऽयवंः । न । मर्याः । घृतऽप्रुषंः । अभिऽस्वर्तारंः । अर्कम् । न । सुऽस्तुभंः ॥४॥
(४१९) अश्वांसः । न । ये । ज्येष्ठांसः । आशवंः । दिधिषवंः । न । रथ्यंः । सुऽदानंवः ।
आपंः । न । निम्नैः । उदऽभिंः । जिगत्नवंः । विश्वऽरूपाः । अङ्गिरसः । न । सामंऽभिः ॥५॥

अन्वयः— ४१७ ये, वातासः न धुनयः, जिगत्नवः, अग्नीनां जिह्वाः न विरोकिणः, वर्मण्वन्तः योधाः न शिमी-वन्तः, पितृणां शंसाः न सु-रातयः। ४१८ ये, रथानां अराः न स-नाभयः, जिगीवांसः शूराः न अभि-द्यवः, वर-ईयवः मर्त्याः न घृत-प्रुषः, अर्कं अभि-स्वर्तारः न सु-स्तुभः। ४१९ ये, अश्वासः न, ज्येष्ठासः आशवः, दिधिषवः रथ्यः न, सु-दानवः, निम्नैः उदभिः, आपः न, जिगत्नवः, विश्व-रूपाः सामभिः अङ्गिरसः न।

अर्थ— ४१७ (ये) जो ये वीर (वातासः न) वायुके समान (धुनयः) शत्रुदलको हिला देनेवाले, (जिगत्नवः) वेगपूर्वक जानेहारे, (अग्नीनां जिह्वाः न) अग्नी की लपटों के तुल्य (विरोकिणः) देदीप्यमान, (वर्मण्वन्तः) कवचधारी (योधाः न) योद्धाओं के समान (शिमी-वन्तः) शूरतापूर्ण कार्य करनेहारे और (पितृणां शंसाः न) पितरोंके आशीर्वादों के समान (सु-रातयः) अच्छे दान देनेवाले हैं।

४१८ (ये) जो वीर (रथानां अराः न) रथोंके पहियोंमें विद्यमान आरों के तुल्य (स-नाभयः) एकही केन्द्रमें रहनेवाले, (जिगीवांसः शूराः न) विजयेच्छु वीरोंके समान (अभि-द्यवः) सभी प्रकारसे तेजस्वी, (वर-ईयवः) अभीष्ट प्राप्त करनेहारे (मर्याः न) मानवोंके समान (घृत-प्रुषः) घृत आदि पौष्टिक वस्तुओंकी समृद्धि करनेवाले, (अर्कं) पूज्य देवताके (अभि-स्वर्तारः न) स्तोत्र पढनेवाले के समान (सु-स्तुभः) भली प्रकार काव्यगायन करनेवाले हैं।

४१९ (ये) जो (अश्वासः न) घोडोंके समान (ज्येष्ठासः) श्रेष्ठ हैं, तथा (आशवः) शीघ्र गतिसे जानेवाले हैं, (दिधिषवः) विपुल धन समीप रखनेवाले (रथ्यः न) रथोंसे संपन्न होनेवाले महारथियोंके समान (सु-दानवः) अच्छे दानशूर, (निम्नैः उदभिः) ढलती जगह की ओर जानेवाले जलप्रवाहोंके (आपः न) जलोंकी नाईं (जिगत्नवः) बडे वेगसे जानेवाले, (विश्व-रूपाः) भाँति भाँतिके रूप धारण करनेहारे और (सामभिः) सामगानों से (अङ्गिरसः न) अंगिरसोंके तुल्य ये वीर अच्छे गायक हैं।

भावार्थ- ४१७ ये वीर शत्रुको जड मूलसे उखाड फेंक देनेवाले, अग्निवत् तेजस्वी, कवचधारी बनकर लडनेवाले तथा शूरता दर्शानेवाले हैं और इनके दान पितरोंके आशीर्वादोंके समान बहुतही सहायक हैं। ४१८ ये वीर एक उद्देश्यसे प्रभावित हो कार्य करनेवाले, विजय पानेकी चाह रखनेवाले, तेजस्वी, शूर, सबको समृद्धि प्रदान करनेहारे तथा पूजनीय वीरोंके काव्यका गायन करनेवाले हैं। ४१९ ये वीर घोडोंके समान वेगसे जानेहारे, महारथियोंके समान उदार, उचित मौकेपर विभिन्न स्वरूप धारण कर कार्य करनेमें बडेही कुशल, जलौघोंके समान निम्न स्थलमें पहुँचकर शान्ति प्रदान करनेहारे और सामगान करनेमें बिलकुल अंगिरसोंके समान कुशल हैं।

टिप्पणी— [४१८] (१) नाभिः = पहियेकी नाभि, केन्द्र, नेता, प्रमुख। (२) अभि-स्वर्तृ = (स्वृ = शब्दोपतापयोः) आवाज करनेहारा, उच्चार करनेहारा, (स्तुति करनेवाला)। (अराः न) जिस भाँति चक्रके आरे समान होते हैं, वैसेही ये सभी वीर सैनिक समान हैं। (देखिए मंत्र ९५; ३०५; ४५३।)

(४२०) ग्रावाणः । न । सूरयः । सिन्धुऽमातरः । आऽदर्दिरासः । अद्रयः । न । विश्वऽहा ।
शिशूलाः । न । क्रीळयः । सुऽमातरः । महाऽग्रामः । न । यामन् । उत । त्विषा ॥ ६ ॥
(४२१) उषसाम् । न । केतवः । अध्वरऽश्रियः । शुभम्ऽयवः । न । अञ्जिऽभिः । वि । अश्वितन् ।
सिन्धवः । न । ययियः । भ्राजत्ऽऋष्टयः । पराऽवतः । न । योजनानि । ममिरे ॥७॥
(४२२) सुऽभागान् । नः । देवाः । कृणुत । सुऽरत्नान् । अस्मान् । स्तोतृन् । मरुतः । ववृधानाः ।
अधि । स्तोत्रस्य । सख्यस्य । गात । सनात् । हि । वः । रत्नऽधेयानि । सन्ति ॥८॥

अन्वयः— ४२० सूरयः, ग्रावाणः न सिन्धु-मातरः, आ-दर्दिरासः अद्रयः न विश्व-हा, सु-मातरः शिशूलाः न क्रीळयः, उत महा-ग्रामः न यामन् त्विषा। ४२१ उषसां केतवः न, अध्वर-श्रियः, शुभं-यवः न, अञ्जिभिः वि अश्वितन्, सिन्धवः न ययियः, भ्राजत्-ऋष्टयः, परावतः न योजनानि ममिरे। ४२२ (हे) देवाः ववृधानाः मरुतः! अस्मान् नः स्तोतृन् सु-भागान् सु-रत्नान् कृणुत, सख्यस्य स्तोत्रस्य अधि गात, हि वः रत्न-धेयानि सनात् सन्ति।

अर्थ— ४२० (सूरयः) ये ज्ञानी वीर (ग्रावाणः न) मेघोंके समान (सिन्धु-मातरः) नदियोंके बनानेहारे, (आ-दर्दिरासः) सभी प्रकारसे शत्रुका विनाश करनेहारे (अद्रयः न) वज्रोंके तुल्य (विश्व-हा) सभी शत्रुओंका संहार करनेहारे, (सु-मातरः) उत्तम माताओंके (शिशूलाः न) निरोगी पुत्र-संतानों के समान (क्रीळयः) खिलाडी (उत) और (महा-ग्रामः न) बडे संग्राम-चतुर योद्धाके समान शत्रुपर (यामन्) हमला करते समय (त्विषा) तेजस्वी दीख पडते हैं।

४२१ ये वीर (उषसां केतवः न) उषःकालीन किरणोंके समान तेजस्वी, (अध्वर-श्रियः) यज्ञके कारण सुहानेवाले, (शुभं-यवः न) कल्याणप्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेवाले वीरोंके समान (अञ्जिभिः) वीरभूषणों या गणवेशोंसे (वि अश्वितन्) विशेष ढंगसे प्रकाशित हो रहे हैं। ये (सिन्धवः न) नदियोंके समान (ययियः) वेगपूर्वक जानेहारे, (भ्राजत्-ऋष्टयः) तेजस्वी हथियार धारण करनेहारे तथा (परावतः न) दूर जानेहारे प्रवासियोंके समान (योजनानि) कई योजन (ममिरे) पार कर चले जाते हैं।

४२२ हे (देवाः) प्रकाशमान तथा (ववृधानाः) बढनेवाले (मरुतः!) मरुतो! (अस्मान्) हमें और (नः स्तोतृन्) हमारे सभी कवियोंको (सु-भागान्) अच्छे भाग्यवान एवं (सु-रत्नान्) उत्तम रत्नोंसे युक्त (कृणुत) करो। (सख्यस्य स्तोत्रस्य) हमारी मित्रताके काव्यका (अधि गात) गायन करो। (हि) क्योंकि (वः) तुम्हारे (रत्न-धेयानि) रत्नोंके दान (सनात्) चिरकालसे (सन्ति) प्रचलित हैं।

भावार्थ- ४२० ये वीर जनताके सहायक, शस्त्रों के तुल्य शत्रुनाशक, उत्तम माताके आरोग्यसंपन्न बच्चोंकी नाईं खिलाडी और युद्धकुशल योद्धाके जैसे शत्रुदलपर टूट पडते समय प्रसन्नचेता बननेवाले हैं। ४२१ ये वीर तेजस्वी, अपने शरीरोंको सँवारनेवाले, वेगपूर्वक दौडनेवाले, आभामय हथियार रखनेवाले, शीघ्र पहुँच जानेकी इच्छा करनेवाले यात्रियोंके समान कई योजन थकावट न दर्शाते हुए जानेवाले हैं। ४२२ हे वीरो! हमें तथा हमारे सभी कवियोंको प्रचुर मात्रामें धन एवं रत्न दे दो, क्योंकि तुम्हारा धनदानका कार्य लगातार प्रचलित रहता है। मित्रदृष्टि हर स्थानपर पनपने लगे, इसीलिए इस काव्यका गायन करो और मित्रतापूर्ण दृष्टिको बढाओ।

टिप्पणी— [४२०] (१) ग्रावन् = पत्थर, मेघ, पर्वत। (२) आ-दर्दिर = (आ + दृ = फोडना, नाश करना) विनाशक। [४२१] (१) पर+अवत् = दूर जानेवाला। [४२२] (१) धेयं = बढोतरी, लेना, पोषण करना। (२) स्तोता = कवि। (३) सख्यस्य स्तोत्रं = मित्रत्व बढानेके लिए किया हुआ काव्य, सभी जगह मित्रभाव बढे, इस हेतुसे रचा हुआ काव्य।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध

' वेद-परिचय ' परीक्षा के नियम।

१ 'वेदपरिचय' परीक्षाके पाठ्य-पुस्तकों में ३०० वेदमन्त्र आ चुके हैं। इन ३०० मन्त्रों का विवरणसहित अर्थ ३ विभागों में [वेदपरिचय प्रथम, द्वितीय, तृतीय विभाग नाम से] मुद्रित हुआ है। इन्हीं पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन की परीक्षा ली जायगी। इन तीनों विभागों का मूल्य ३॥) है और डा० व्य० ॥) है।

२ [१] परीक्षापत्र भेजना, [२] उत्तरपत्र की परीक्षा करना, तथा[३] परीक्षा का परिणाम सूचित करना आदि व्ययके लिये १॥) परीक्षार्थी अपने 'प्रार्थना-पत्र' के साथ भेज दें।

३ जो उत्तीर्ण होंगे, वे "प्रशस्तिपत्र" पा सकते हैं।

४ परीक्षार्थी अपने स्थानपर ही अध्ययन करके परीक्षा के लिये बैठ सकते हैं। किसी उत्तरदायी सज्जनकी निगरानी में उत्तरपत्र लिख कर भेज सकते हैं। पाठशाला के मुख्य शिक्षक, धार्मिक-संस्था के अध्यक्ष अथवा अन्य सज्जन के निरीक्षण में परीक्षापत्र के उत्तर लिखे जा सकते हैं।

५ प्रश्नपत्र के पूर्णांक १०० होंगे। जिनमें से ४० अंक पानेसे तृतीय श्रेणी, ६० पानेसे द्वितीय श्रेणी और इनसे अधिक अंक मिलनेसे प्रथम श्रेणी मिलेगी।

६ जो पाठक इस परीक्षा के लिये बैठना चाहेंगे, वे निम्नलिखित प्रकार 'प्रार्थनापत्र' श्री० मन्त्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध [जि० सातारा] के पास भेज सकते हैं।

प्रार्थना-पत्र का नमूना।

श्री० मन्त्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध [जि० सातारा]

नमस्ते। निवेदन है कि, मैं 'वेद-परिचय' की परीक्षा देना चाहता हूं। मेरा वेद-परिचयके तीनों विभागों का अध्ययन हुआ है। इस पत्र के साथ आज की डाक से १॥) भेजा है। कृपया प्रश्नपत्र भेज दीजिये।

परीक्षा के निरीक्षण का कार्य श्री० म० ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ने स्वीकार किया है।

भवदीय

नाम ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

पता ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

ग्राम तथा पोष्ट ··· ··· ··· ··· ··· ···

जिला ··· ··· ··· ··· ··· ···

निरीक्षण के कार्य के लिये नियुक्त हुए सज्जन की सम्मति।

श्री० मन्त्री, स्वाध्याय-मण्डल,
औंध [जि० सातारा]

नमस्ते। "वेद-परिचय" परीक्षा का निरीक्षण करना मैंने स्वीकार किया है। परीक्षाका निरीक्षण मैं आप के नियमानुसार करूंगा और परीक्षा समाप्त होते ही उत्तरपत्र गुप्तता के साथ रजिस्ट्री डाक से भेज दूंगा।

भवदीय

नाम ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

पता ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

पोष्ट ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

जिला ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···